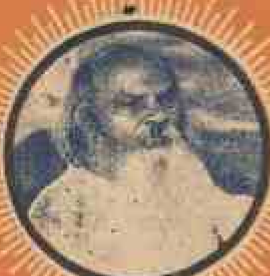

संस्थापक संपादक
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्र मोहनजी महाराज

सिद्धयोग

मई १९९०

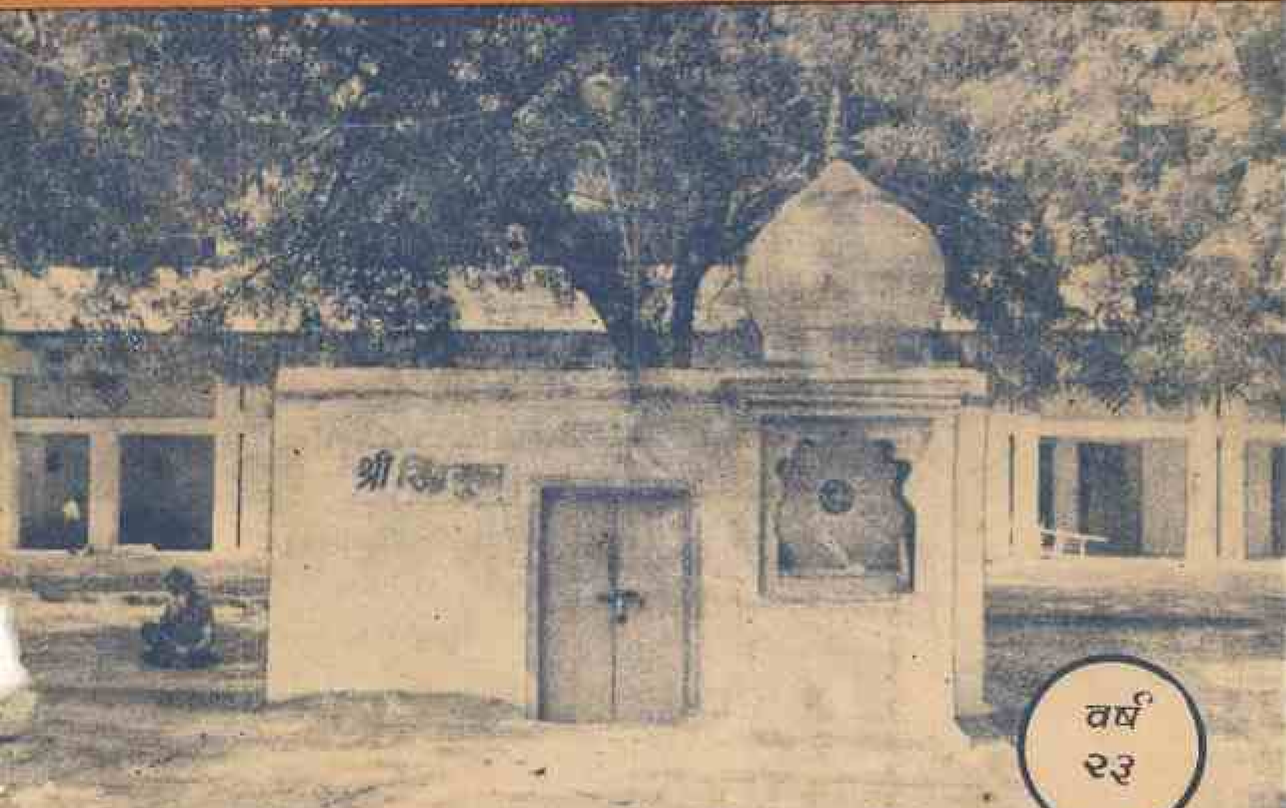

वर्ष
२३

अंक
२

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सवाई
आगरा

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

मई
१९९०

इस अंक में पढ़िये—

★ ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् (प्रार्थना) १

★ शक्ति प्राप्ति का साधन—धारणा २
—योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

★ चित्त शुद्धि एवम् समाधि ५
—श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

★ योग का दूसरा सोपान नियम ११
—डॉ० ऋषिराज वाशिष्ठ

★ जीवन तत्व-साधन—सर्वोत्तान १७
—श्री गुरुदेवजी के सौजन्य से

★ समाज की मौन-स्वीकृति से अपराध होता है २३
—श्री मनोहर मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

★ ज्योति और धुँआ २५
—जे० कृष्णमूर्ति

★ सत्य और असत्य : मौलिक गुण-दोष २८
—आचार्य श्री विनोबा

★ विज्ञानमय कोश ३२
—आचार्य श्रीराम शर्मा

★ कर्माशय ३६
—श्री स्वामी हरिहरानन्द आरण्य

★ आत्म-समर्पण ही भक्ति है ४०
—श्री विष्णुप्रसाद व्यास

★ ध्यान-योग से कर्मफल विपाक परिवर्तन ४३
—श्री सुभाषचन्द्र वर्मा

★ दही और मट्ठा ४५
—सुश्री रेनु भारद्वाज

★ महाप्रभु का पावन-जयन्ती समारोह ४७

वार्षिक मूल्य ४० रुपया। इस अंक का ५ रुपया।

अवश्य आइये ! अवश्य देखिये !

योग-साधन आश्रम ऋषिकेश

का

वार्षिक योग महोत्सव

सभी गुरु भाई-बहिनों को यह जानकर हर्ष होगा कि सुप्रसिद्ध योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का वार्षिक 'योग महोत्सव' ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी, नवमी, दशमी वि० संवत् २०४७ तदनुसार तारीख १, २, ३ जून ९० ई० शुक्रवार, शनिवार, रविवार को मनाया जायेगा।

सदा की भाँति उत्सव का कार्यक्रम बहुत ही रोचक और उपयोगी बनाने का आयोजन किया गया है। उत्सव में योग-सिद्धान्तों पर उच्च-कोटि के प्रवचन, उपदेश, भजन एवं सुमधुर शास्त्रीय सङ्गीत आदि का कार्यक्रम रहेगा। आश्रम के ब्रह्मचारी यौगिक क्रियाओं का प्रदर्शन भी करेंगे। सभी योग-प्रेमियों को इस समारोह में सम्मिलित होकर लाभ उठाना चाहिए।

सभी गुरु भाई-बहनों को श्री गुरुदेवजी की ओर से इस उत्सव के निमन्त्रण-पत्र भी भेजे जा रहे हैं। किन्तु कभी-कभी डाक की गड़बड़ी के कारण समय पर पहुँच नहीं पाते हैं अतः सभी भाई-बहिन इस सूचना को ही अपना आमन्त्रण समझते हुए इस आयोजन में सम्मिलित हों।

नोट—३ जून ९० दिन रविवार गंगा दशहरा को नगर शोभा-यात्रा (जलूस) का आयोजन है जिसमें बैण्ड बाजे के साथ विविध झाँकियों का आयोजन रहेगा। शोभा-यात्रा सायं ६ बजे योग-साधन आश्रम से प्रारम्भ होकर ऋषिकेश के मुख्य बाजारों से होती हुई रात के ११ बजे आश्रम वापस पहुँचेगी। अतः सभी सत्संग-प्रेमियों को उत्साह के साथ इस शोभा-यात्रा एवं समारोह में सम्मिलित होना चाहिए। आगन्तुकों को मौसम के अनुकूल अपने बिस्तर आदि अवश्य साथ लाने चाहिए।

मन्त्री—योग साधन आश्रम

रेल्वे रोड ऋषिकेश (उ० प्र०)

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २३
अङ्क २

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

मई
१९९०

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

ऋग्वेद १/१६४/३९

अर्थात्

ऋचः ऋक् प्रतिपाद्य जिस विनाश रहित परम रक्षक ब्रह्म में (विश्वे देवाः) सूर्य चन्द्र तथा नक्षत्र तारागण आदि देव (निषेदुः) ठहरे हैं, (यः) जो उसे नहीं जानता वह ऋक् (ऋचा पाठ) द्वारा क्या करेगा। यानी ऐसे व्यक्ति का ऋक् स्वाध्याय व्यर्थ है। जो उस ब्रह्म को जानते हैं वे बेला सम्यक् स्थित सम्पन्न होते हैं।

टिप्पणी—ऋग्वेद के इस मन्त्र द्वारा स्पष्ट है कि ऋग्वेद का प्रतिपाद्य है—परम रक्षक ब्रह्म! इसी ब्रह्म की सत्ता में सारे सूर्य, चन्द्र आदि देवों की स्थित है। अतः हम सबको उसी की उपासना करनी चाहिए।

विशेष लेख :-

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

शक्ति प्राप्ति का साधन :

धारणा

हमने पहले कभी किसी लेखों में यह भली प्रकार से समझा दिया है कि शक्ति-विहीन व्यक्ति कुछ भी नहीं है। हमारे शास्त्रों का भी कथन है।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो"

अर्थात् बलहीन मनुष्य को आत्म-पद की प्राप्ति स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। जो प्राणी शक्तिहीन है वह लोक व पर-लोक के सुख को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। उसका जीवन केवल इस प्रकार का है जिस प्रकार से वर्षा काल में अनेक प्रकार के कीट-पतंग आदि जन्म लेकर मर जाया करते हैं। मनुष्य जब से जन्म ग्रहण करता है तब से उसके मन में शक्ति-प्राप्ति की धुनि सवार रहती है। किन्तु मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" के नियमानुसार साधन में मनुष्य अपनी मति के अनुसार प्रवृत्त होता है। इसलिए वह जिस प्रकार की साधना करता है उसी प्रकार की शक्ति का अनुभव कर अपने आपको आह्लादित कर लेता है किन्तु उसका वह आह्लाद बहुत थोड़े समय के लिए होता है जिस प्रकार से समुद्र की मछली को कहीं तपी हुई बालुका में डाल दिया जाय तो वह उस बालुका की गर्मी को पाकर तड़प जाया करती है और यदि उसको कोई छोटा-सा भी जलाशय मिल जाता है तो उसे पाकर उसे शान्ति मिलती है किन्तु वह शान्ति भी उसके लिए अस्थाई रहती है, जब तक वह अपने घर समुद्र को प्राप्त नहीं हो जाती तब तक उसका दुःख तड़पना किसी भी प्रकार से कम नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह जीवात्मा शक्ति के भण्डार परमात्मा का अंश है। अतः जब तक यह उन्हीं को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक छोटी-मोटी शक्तियों को पाकर इसे शान्ति उपलब्ध नहीं हो सकती। इसलिए योगियों ने अपने तप के आधार पर उच्चतम शक्ति प्राप्त करने के उपायों का अन्वेषण किया जिनको अपनाते हुए वे कभी भी दीनता को प्राप्त नहीं होते। हमारे शरीर में सभी प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति का केन्द्र मन है। मन की ज्योति को भी महाज्योति कहा गया है मन्त्रों में इसीको शिव संकल्पमय होने की प्रार्थना की गई है।

'धारणा' के अभ्यास से साधक किस प्रकार शक्तिमान बनकर लाभान्वित होकर इष्टसिद्धि का लाभ ले पाते हैं इसे समझिए श्रद्धेय गुरुदेवजी के इस लेख में।

—सं० सम्पादक

हमारा मन जैसे जागता हुआ दूर-दूर भ्रमण करता है सोता हुआ भी उसी प्रकार दूरगामी और क्रियाशील बना रहा करता है। यह शुभ संकल्पों से हमारे उत्थान का कारण बन जाता है। यथा :

मनएव मनुष्याणाम् ।
कारणं बन्धमोक्षयोः ।।

अर्थात् बन्ध और मुक्ति का कारण मन है इसलिए सर्वप्रथम मन की चंचलता को रोक कर शक्ति संचय करने के लिए उसका संयम में ले आना बहुत ही आवश्यक है। भगवान पतंजलिदेव ने 'योग दर्शन' में अष्टांग योग का वर्णन किया है, यद्य सारे के सारे अङ्ग यद्यपि मन पर कण्ट्रोल करने के लिए अचूक साधन हैं। किन्तु फिर भी सब प्रकार की साधना करते हुए अष्टांग योग के अन्दर धारणा, ध्यान और समाधि मनोनिग्रह करने के तीन प्रमुख साधनों का उल्लेख किया है। जब तक मन किसी धारणा के द्वारा अन्तर्मुखी नहीं होता तब तक इसके अन्दर शक्तियों का उदय नहीं हो सकता। किसी महावृक्ष को छेदन करने के लिए पहले इस प्रकार के शस्त्र की जरूरत है जो तेजधार वाला हो और जो उसे काट सके इसलिए परम श्रेय लाभ करने के लिए और अपने अन्दर दिव्य शक्तियों को सग्रहीत करने के लिए प्रथम मन को ही वश में लेना ही बहुत आवश्यक है। इसकी पहली साधना धारणा से आरम्भ होती है।

धारणा

धारणा का अभ्यासी मनुष्य बाह्य जगत् में प्रवेश करने की योग्यता को धारण करता है। धारणा क्या है ? इसके विषय में भगवान् पतंजलि देव अपने सूत्र में इस प्रकार निर्देश करते हैं—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

अर्थात् किसी लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। यह धारणा ही योग का सर्वप्रथम सोपान है। यहाँसे ही मनुष्य का सर्वाधिक मन का एकाग्र होना आरम्भ होता है। धारणा कहाँ करनी चाहिए इस विषय में शास्त्रोंके अनेक मत हैं, किन्तु व्यासदेवजी योग-दर्शन के भाष्य में धारणा को इस प्रकार बतलाया है —

नाभिचक्रे, हृदय पुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे, इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्ति मात्रेण बंध इति धारणा।

अर्थात् नाभि, चक्र, हृदय, कमल, मूर्ध्व ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र इत्यादि स्थानों पर चित्त की वृत्ति मात्र को एकाग्र करना धारणा कहलाती है। वृत्ति मात्र कहने का अभिप्राय यह है कि इनको हम अपने मन की वृत्ति कल्पनात्मक रूप से चिन्तन करें, जिस प्रकार से आँख रूप को प्रत्यक्ष देख लेती है और मन उस रूप की भावना किया करता है। देखे सुने हुए विषय का मन का भावना रूपमें चिन्तन करना ही वृत्ति बंध है। इसका अभिप्राय इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जैसे हमने हृदय कमल में भगवान शिव के स्वरूप पर धारणा करना आरम्भ करें और कल्पना से उनके स्वरूप को हम हृदय में बैठा हुआ देखने लगें तो यही हृदय कमल की धारणा है। बार-बार कल्पना से भगवान् शिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु या अन्य किसी भी इष्टदेवके स्वरूप का हृदय कमलमें चिन्तन करना यह हृतपुण्डरीक में होने वाली धारणा है इसी प्रकार से मूर्द्धा ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वाग्र, नाभि चक्र आदि में

धारणा की जाती है। धारणा करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह फल की इच्छा को छोड़ करके कर्म को करता रहे। किसी भी काम में मनुष्य जल्दी परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् पतंजलिदेव जी का आदेश है :—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

अर्थात् किसी भी अभ्यास को हम करना शुरू करें तो उसके परिणाम की प्रतीक्षा के लिए उसका वर्षों तक लगातार करते रहना बहुत आवश्यक है। यह नहीं कि हम एक-दो दिन करके ही उसके परिणाम पर नजर डालने लगें। काफी लम्बे समय तक उस अभ्यास को करना चाहिए और लगातार करना चाहिए अर्थात् इस नियम में कोई विघ्न नहीं आने पावे। आज कर लिया कल फिर छूट गया, फिर दो-चार रोज करके फिर कुछ समय के लिए छूट गया—इस प्रकार का अभ्यास सफलता के उच्चतम स्तर पर नहीं ले जा सकता। इसके साथ-साथ एक बात यह भी परमावश्यक है कि हम श्री गुरुदेव के वचन पर विश्वास करके उस अभ्यास को करें जिसमें हमारी श्रद्धा परिपूर्णरूपेण हो। हमने किसी मन्त्र का जाप शुरू किया और उसमें हमारी आस्था न हुई तो उसका भी परिणाम जल्दी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। वैसे शास्त्रीय नियम के अनुसार "अकर्णात् कर्णम् श्रेयः" न करने से कुछ करना ही अच्छा है, इस बात को विचार में रखते हुए जो कुछ भी किया जाय, कुछ न कुछ भले के लिए तो होता ही है, किन्तु यदि हम उसके उत्तम और अन्तिम निष्कर्ष को देखना चाहते हैं तो उपरोक्त तीनों नियमों का पालन करना हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है। इसलिए धारणा को भी परिपक्व करने के लिए हमें कम-से-कम तीन साल तक एक विषय पर ही निरन्तर अपना मन लगाना चाहिए। तीन साल तक यदि मन्दाधिकारीभी उपरोक्त सूत्र के अनुसार धारणा का अभ्यास करेगा तो उसका भी मनोबल अवश्य बढ़ेगा ही बढ़ेगा। धारणा के अभ्यास से मन में विचार करने की उच्च स्तर की योग्यता प्रकट हो जाती है और वह एकाग्रता की ओर चलने लगता है। भगवान पतंजलिदेवजी ने योग-दर्शन में

धारणा सु योग्यता मनसः।

अर्थात् धारणा करने पर मन की योग्यता बढ़ती है। मन में बल का विकास होता है। और वह सब कुछ करने की ताकत वाला बन जाता है। जो व्यक्ति दो या तीन साल तक लगातार प्रातः व सायंकाल २-२ घण्टे अपने ध्येय विषय को धारणा करके उसको वृत्ति निरोध से एकाग्रित करना चाहता है, उसका ऐसा अनवरत अभ्यास करने पर अवश्य ही वह विषय उसके मन में प्रकट होने लगता है। मन को एकाग्र करने के कुछ इस प्रकार के नियम हैं कि जिनके पालन करने से हर मनुष्य का मन एकाग्र हो ही जाता है। यदि वह किसी अच्छे कण्ट्रोलर अर्थात् अच्छे नियन्त्रक गुरुदेव की आज्ञा में बंधकर अपने अभ्यास को नियमानुसार करता है तो इस प्रकार से लगातार किया हुआ यह धारणा अभ्यास स्वतः ही ध्यान के रूप में बदल जाया करता है।

चित्त शुद्धि एवं समाधि

● श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

प्रातः स्मरणीय भगवान पतंजलिदेवजी ने "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" कहकर चित्त-वृत्ति निरोध को ही योग बतलाया है। चित्त-वृत्ति निरोध का अर्थ है--चित्त का लौकिक विषयों के चिन्तन से हट जाना। चित्त जब तक राग-द्वेषादि दोषों से कलुषित रहेगा, तब तक वृत्ति निरोध होना असंभव है। अतः समाधि प्राप्ति के लिए चित्त शुद्धि परमावश्यक है। चित्त शुद्धि का महत्त्व बताते हुए मैत्रेयी उपनिषद में कहा गया है--

चित्तमेव हि संसारस्त-
त्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति,
गुह्यमेतत् सनातनम् ॥
चित्तस्य हि प्रसादेन,
हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा,
सुखमक्षयमश्नुते ॥

चित्त ही संसार है, अतः उसे प्रयत्नपूर्वक शुद्ध करना चाहिए। जिसका जैसा चित्त होता है वह वैसा ही बन जाता है, यह एक सनातन सिद्धान्त है। चित्त शान्त होने पर साधक के सभी शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा प्रशान्त चित्त वाला साधक समाधि अवस्था को प्राप्त होकर कभी नष्ट न होने वाले आनन्द के भण्डार को पा जाता है। गीता में भी कहा गया है--

प्रसादे सर्व दुःखानां,
हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु,
बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

चित्त की निर्मलता हो जाने पर साधक के अन्दर दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है और प्रसन्न चित्त मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है अर्थात् वह समाधि को पा जाता है।

अतः साधक को सर्व प्रथम चित्त शुद्धि के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

चित्तकी मलिनता के क्या कारण है और उसकी शुद्धि किस प्रकार हो सकती है? इस रहस्य को समझाते हुए त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद में कहा गया है--

जीव अनन्त काल से अनेकों सूक्ष्म, स्थूल, उत्तम तथा अधम शरीरों को धारण करता हुआ उन-उन शरीरों से प्राप्त होने योग्य अनेकों शुभ-अशुभ प्रारब्ध कर्मों का भोग करता रहता है। जिस कारण उसका अन्तः-करण उन-उन कर्मों की वासना से लिप्त रहता है। अतः बार-बार उन-उन कर्मों के फलस्वरूप विषयों में ही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, निवृत्ति नहीं होती। ब्रह्म-सुख की प्राप्तिके लिए उसे प्रवृत्ति नहीं होती। अज्ञान की प्रबलता के कारण जीव मोक्ष का विचार तक नहीं करता। जब अनेक जन्मार्जित पुण्यों का उदय होता है तो ईश्वर की अपार कृपा

से सत्पुरुषों का संग प्राप्त होता है, जिससे मनुष्य को कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का बोध होता है और तब वह कल्याण मार्ग पर चलना आरम्भ करता है। जिसके फलस्वरूप उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

उपनिषदों में चित्तशुद्धि को ही समाधि का जनक बताया गया है। जब तक साधक का चित्त राग-द्वेष आदि दोषों से कलुषित रहेगा, तब तक उसे आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। जैसे—

स्व शरीरे स्वयं ज्योति-
स्वरूपं परमार्थिकम्।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति,
नेतरे माययावृता॥
(पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्)

जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है और जिनके दोष क्षीण हो गये हैं, योग-परायण साधक ही अपने भीतर स्वयं प्रकाशमान परमात्मा का दर्शन करते हैं। माया में फँसे हुए अज्ञानी लोग उसको देख नहीं सकते।

चित्तशुद्धि के लिए सर्व प्रथम हमारा आहार शुद्ध एवं सात्त्विक होना चाहिए। गीता में इसी बात पर बल दिया गया है—

युक्ताहार विहारस्य,
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य,
योगोभवति दुःखहा॥
(गीता ६/१७)

अर्थात् दुःखों का नाश करने वाला योग यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने और जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

आहार शुद्धि का महत्व बताते हुए उपनिषदों में कहा गया है—

अभक्ष्यस्य निवृत्या तु,
विशुद्धं हृदयं भवेत्।
आहारशुद्धौ चित्तस्य,
विशुद्धिर्भवति स्वतः।
चित्ते शुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं,
त्रुट्यन्ते ग्रन्थयः स्फुटम्॥
(पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्)

आहार में अभक्ष्य का त्याग कर देने से चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध हो जाने पर उसमें क्रमशः ज्ञान प्रकट होता जाता है, जिससे अज्ञान की समस्त ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में भी यही बात कही गई है—

आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः,
सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।
स्मृतिलब्धे सर्व-
ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥

छान्दोग्योपनिषद् में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि मनुष्य जिस प्रकार का अन्न खाता है, वैसा ही उसका मन बन जाता है, क्योंकि मन अन्नमय है। प्राण आपोमय होते हैं और वाणी तेजोमय होती है। जैसे—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठः धातुस्तत्पुरीषं भवति। यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठः धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः स प्राणः।

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक्।

(छान्दोग्योपनिषद्)

खाया हुआ अन्न तीन रूपों में परिणत हो जाता है। उसका सबसे स्थूल भाग मल बन जाता है, जो मध्यम है वह मांस और जो सबसे सूक्ष्म है वह मन बन जाता है।

इसी प्रकार पिया हुआ जल तीन रूपों में विभक्त हो जाता है। उसका जो स्थूल भाग है वह मूत्र बन जाता है, जो मध्यम भाग है वह रक्त बन जाता है और जो सूक्ष्म भाग है वह प्राण बन जाता है।

खाये हुए घी, तेल आदि तैजस पदार्थ भी तीन रूपों में परिणत हो जाते हैं। उसका जो स्थूल भाग है वह हड्डी बन जाता है, जो मध्यम भाग है वह मज्जा बन जाती है और जो सूक्ष्म भाग है उससे वाणी बनती है।

दध्नः सोम्यः मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पि भवति। एवमेव सौम्य! अन्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो।

(छान्दोग्योपनिषद)

अर्थात् जब दही मथा जाता है तो उसका सबसे सूक्ष्म भाग ऊपर उठ जाता है और वह मक्खन बनता है। ठीक इसी प्रकार हे सौम्य! अन्न जब खाया जाता है तो उसका सबसे सूक्ष्म भाग ऊपर उठ जाता है, वही मन बन जाता है।

अतः मन, प्राण एवं वाणी में पवित्रता एवं ओजस्विता लाने के लिए यह आवश्यक है कि साधक का खान-पान सात्विक हो।

अष्टांगयोग चित्तशुद्धि का एक महत्वपूर्ण साधन है। योग-दर्शन में कहा गया है—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक ख्यातेः।

अष्टांगयोग का अभ्यास करने से चित्त के मल समाप्त हो जाते हैं और वह सर्वथा निर्मल हो जाता है। उस समय योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेक-ख्याति तक हो जाता है। अर्थात् उसे आत्मा का स्वरूप मन, बुद्धि, अहङ्कार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न दिखलाई देता है। योग-दर्शन में चित्तशुद्धि के लिए दो सरल साधन बताये गये हैं। उनमें पहला साधन है—

मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्।

सुखी मनुष्यों में मित्रता की भावना करने से, दुःखी मनुष्यों में दया की भावना करने से, पुण्यात्माओं में प्रसन्नता की भावना करने से और पापीजनों के प्रति उपेक्षाभाव रखने से चित्त के राग-द्वेष, ईर्ष्या और क्रोध आदि मलों का नाश होकर चित्त निर्मल हो जाता है।

अतः सुखी लोगों को देखकर उनसे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए, बल्कि उन्हें अपना मित्र समझते हुए और उनका सुख देखकर स्वयं भी सुख अनुभव करना चाहिए। दुःखी प्राणियों को देखकर उन पर दया करते हुए उनका दुःख दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। पुण्यात्माओं को देखकर उनसे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए बल्कि प्रसन्न होना चाहिए और अपने मनमें उनके प्रति प्रेम तथा आदर बढ़ाना चाहिए। पापीजनों के प्रति किसी प्रकार का द्वेष-भाव न रखते हुए उनकी उपेक्षा करते रहना चाहिए। यह चित्तशुद्धि का एक उत्कृष्ट साधन है। दूसरा उपाय है—

प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।

अथवा प्राणवायु को बार-बार बाहर निकालने और अन्दर-बाहर रोकने के अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है।

अतः पूर्वोक्त रीति से मैत्री आदि की भावना करने से प्राणायाम के अभ्यास से तथा जप-तप आदि साधनों से साधक का चित्त पूर्णतया निर्मल हो जाता है और उसमें समाधिस्थ होने की योग्यता आ जाती है। योग-दर्शन का सिद्धान्त है—

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन योग्यत्वानि च ।

अर्थात् मैत्री आदि की भावना द्वारा ध्यानाभ्यास द्वारा अथवा जप, तप आदि साधनों द्वारा आन्तरिक शुद्धि के लिए अभ्यास करने से साधक के अन्दर स्थित राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि मलों का नाश होकर उसका अन्तःकरण पूर्णतया स्वच्छ हो जाता है। मन की व्याकुलता का नाश होकर उसमें सदैव प्रसन्नता बनी रहती है, चित्त एकाग्र हो जाता है और सब इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। जिससे साधक के अन्दर आत्म-दर्शन की योग्यता आ जाती है।

अष्टांगयोग के दूसरे अंग नियम के अन्तर्गत एक नियम शौच भी है, जिसका अर्थ है—शुद्धि, "शौच" नियम का दृढ़तासे पालन करने पर वैराग्य के भाव पुष्ट होते हैं। शौच का फल बताते हुए योग-दर्शन में कहा गया है—

शौचात्स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गः ।

बाह्य शुद्धि का पालन करनेसे भी साधक की अपने शरीर में अपवित्र बुद्धि हो जाती है तथा सांसारिक व्यक्तियों का संग करने की उसे इच्छा नहीं होती ।

बाह्य शुद्धि योग-साधना का एक अपरिहार्य अंग है और उसका विधान आन्तरिक शुद्धि के लिए ही किया गया है। इस सम्बन्ध में मैत्रेयी उपनिषद् का वचन है—

अहम्ममेति विण्मूत्रलेप-
गन्धादि लोचनम् ।
शुद्धं शौचमिति प्रोक्तं,
मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ॥
चित्तशुद्धिकरं शौचं,
वासनात्रय नाशनम् ।
ज्ञान वैराग्यमृत्तोयैः,
क्षालानात् शौचमुच्यते ॥

मल-मूत्र आदि की शुद्धि तो मिट्टी-जल आदि से होती है, किन्तु यह लौकिक शुद्धि है। वास्तविक शुद्धि तो 'मैं' और मेरा भाव त्यागने से ही होती है।

यद्यपि बाह्य पवित्रता भी चित्त को शुद्ध बनाती है और वासनाओं का नाश करती है, पर ज्ञानरूपी मिट्टी और वैराग्यरूपी जल के धोने पर जो पवित्रता आती है वही वास्तविक पवित्रता है।

मैत्रेयी उपनिषद में वर्णित निम्नलिखित विधि से साधना करने वाला योग-साधक शुद्ध चित्त होकर उसके फलस्वरूप मोक्ष को पा जाया करता है—

देहोदेवालयः प्रोक्तः स जीवः
केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं,
सोऽहं भावेन पूजयेत् ॥
अभेद दर्शनं ज्ञानं ध्यानं,
निर्विषयं मनः ।

स्नानं मनोमल त्यागः,
शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।।
ब्रह्मामृतं पिबेद्,
भैक्ष्यमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा,
चैकान्ते द्वैतवर्जिते ।।
इत्येवमाचरेद्धीमान्स,
एव मुक्तिमवाप्नुयात् ।।

शरीर देवालय है और उसमें वास करने वाला जीव शिवस्वरूप है। अतः साधक को चाहिए कि वह अज्ञानरूपी मल को त्याग दे अर्थात् अपने को शरीर न समझकर "मैं ही वह परमात्मा हूँ" ऐसी भावना से उस परमेश्वर की पूजा करे। क्योंकि जीव और परमेश्वर में भेद न समझना ही ज्ञान है। मन को विषय-विकारों से हटाना ही ध्यान है, मनके मल को त्याग करना ही स्नान है और इन्द्रियों को वश में रखना ही शुद्धि है। बुद्धिमान साधक को चाहिए कि वह सदैव परमेश्वर-चिन्तन रूप अमृत का पान करता रहे और देह टिकी रहे। केवल इसी उद्देश्य से भिक्षा ग्रहण करे तथा एकान्त स्थान में एकाकी वास करे। इस प्रकार के आचरण करता हुआ मनुष्य मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

जाबालदर्शनोपनिषद में "शौच" की परिभाषा निम्नलिखित दो श्लोकों में की गई है—

स्वदेहमलनिर्मोक्षो,
मृज्जलाभ्यां महामुने ।
यत्तच्छौचं भवेत् बाह्यं,
मानसं मननं विदुः ।।

अत्यन्त मलिनो देहो देही,
चात्यन्त निर्मलः ।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा,
कस्य शौचं विधीयते ।।

मिट्टी और जल के द्वारा शरीरको पवित्र करना बाह्य शौच है; परन्तु ज्ञानीजन "मैं विशुद्ध आत्मा हूँ" ऐसा भाव रखने को ही सर्वोत्कृष्ट शौच कहते हैं। यह देह बाहर और भीतर दोनों ओर से ही मलिन है परन्तु देह को धारण करने वाला आत्मा अत्यन्त पवित्र है। इस प्रकार देह और आत्मा के अन्तर का ज्ञान हो जाने पर फिर किसे पवित्र किया जाये।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त उन लोगों पर ही लागू होता है जिन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया है और जो ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये हैं, जो समस्त प्राणियों और सभी पदार्थों को अपना ही रूप समझते हैं, जिनकी दृष्टि में द्वैत है ही नहीं। सामान्यजनों को तो अपनी साधनाकी प्रारम्भिक अवस्था में बाह्य शुद्धि का कट्टरता से पालन करना चाहिए। तभी वे आगे बढ़ सकते हैं।

आज के घोर कलिकाल में प्रगतिवाद के नाम पर लोग मनमाना आचरण करने लग गये हैं। खान-पान की शुद्धि की ओर किसी का ध्यान जाता ही नहीं। सबका जूठा खाना और सबको अपना जूठा खिलाना तथा खड़े जूते पहनकर खाना आज का फैशन बन गया है। यदि कोई व्यक्ति पवित्र एवं सात्विक जीवन बिताना भी चाहे तो उसे भी भ्रष्ट करने की चेष्टा की जाती है तथा उसे असामाजिक, असभ्य एवं ढोंगी आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। तथाकथित

सभ्य समाज अकारण ही उससे द्वेष करने लग जाता है। वे लोग यम-नियमों को कोरा ढकोसला समझते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि ये यम-नियम हमारे पूर्वज ऋषियों की धरोहर हैं। ये यम-नियम ही हमारे समाज एवं सभ्यता के आधार-स्तम्भ हैं। सत्य-अहिंसा आदि यम तथा शौच-सन्तोष आदि नियम जहाँ समाज को अनुशासित और मर्यादित रखते हैं, वहीं ये मनुष्य को योग में प्रवेश भी दिला देते हैं। योग-मार्ग के पथिक को यम-नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए चित्तशुद्धि के लिए सदैव प्रयत्न-शील रहना चाहिए। क्योंकि चित्तशुद्धि ही समाधि का प्रथम और अन्तिम सोपान है। शुद्ध चित्त में ही आत्म-ज्ञान प्रकाशित होता है। योग-शिखोपनिषद का कथन है—

शुद्धे चेतसि तस्यैव,
स्वात्मज्ञानं प्रकाशते।
तस्माज्ज्ञानं भवेद्योगा-
ज्जन्मनैकेन पद्मज॥
तस्माद्योगं तमेवादौ,
साधको नित्यमभ्यसेत।
मुमुक्षिभिः प्राणजयः,
कर्त्तव्यो मोक्षहेतवे॥

शुद्धचित्त में ही ज्ञान का प्रकाश होता है, योग द्वारा एक जन्म में ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। अतः साधक को उस योग का नित्य प्रति अभ्यास करना चाहिए। मोक्ष के अभिलाषी को मोक्ष प्राप्ति के लिए प्राणों पर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिए।

समाधि का स्वरूप

समाधि किसे कहते हैं और समाधि प्राप्त योगी की कैसी अवस्था होती है? इस विषय को सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद में सविस्तार समझाया गया है। जैसे—

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते॥
यदा संक्षीयते प्राणः मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं यत् समाधिरभिधीयते॥
यत्समत्वं तयोरत्र जीवात्मपरमात्मनः।
समस्त नष्ट सङ्कल्पः समाधिरभिधीयते॥
प्रभाशून्यं मनः शून्यं बुद्धिशून्यं निरामयम्।
सर्वशून्यं निराभासं समाधिरभिधीयते॥
स्वयमुच्चलिते देहे देही नित्य समाधिना।
निश्चलं तं विजानीयात् समाधिरभिधीयते॥
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परम पदम्।
यत्र यत्र परब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम्॥
(सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद्)

जिस प्रकार जल में मिलाया हुआ नमक उसी में घुल-मिल जाने से जल ही बन जाता है। उसी प्रकार मन जब आत्मा में विलीन हो जानेसे अपना पृथक अस्तित्व खोकर तद्रूप बन जाता है, उस अवस्था को समाधि कहते हैं।

प्राणायाम के द्वारा सम्यक् रूप से क्षीण प्राणवायु जब कुम्भक में स्थिर हो जाता है चित्तवृत्तियों का लोप हो जाता है, तब चित्त और आत्मा में भी एकीभाव हो जाता है, उसे समाधि कहा जाता है।

समाधि उस अवस्था का नाम है, जिसमें जीवात्मा और परमात्मा में समत्व हो जाने पर सभी संकल्प मिट जाते हैं।

सांसारिक बोध रहित जिस स्थिति में मन, बुद्धि का पूरी तरह विलीनीकरण हो जाने पर सब कुछ शून्यवत् दिखाई पड़ता है, उस निरामय अवस्था को समाधि कहा जाता है। ❁ ❁

योग का दूसरा सोपान नियम

● डॉ० ऋषिराज वाशिष्ठ

नियम

नियमसे तात्पर्य आचरण सम्बन्धी नियमों को व्यक्तिगत जीवन में प्रायोगिक रूप देना है। यह योग-साधकको समाजमें रहते हुए भी समाज से ऊपर उठा देता है एवं वह सामाजिक मूल्यों के प्रति सचेत, सजग रहता है, जिससे वह योग-साधना में निर्विघ्न रूप से आगे बढ़ता रहता है।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि नियम वह अनुष्ठान है जिससे समाज व साधक के मध्य सामाजिक, शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक समन्वय स्थापित हो जाता है। साधक पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी होकर सामाजिक मूल्यों के प्रति इतना सजग हो जाता है कि समाज के बन्धन या नियम उसे परतन्त्र या प्रभावित नहीं करते।

नियम के दस अंग बताये गये हैं—

तपः सन्तोष आस्तिक्यं,
दानमीश्वर पूजनम्।
सिद्धान्त वाक्य श्रवणं,
ह्रमती च जपो हुतम्॥
नियमादश प्रोक्ता,
योगशास्त्र विशारदः॥

तपः—तप के अन्तर्गत मुख्यतः चित्त का निग्रह, कुप्रवृत्तियों का दमन और विषयों से पराङ्मुख होना ही है। जिस प्रकार सोने को अग्निमें तपाने से उसकी समस्त मलिनता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ और मन उचित रूपसे अभ्यास करने या तपरूपी भट्टी में तपाने से अभ्यासी का इन पर अधिकार हो जाता है और उसमें सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, मान-अपमान आदि द्वन्द्वोंको सहन करने की सामर्थ्य आ जाती है। महर्षि पतंजलि योगशास्त्र में द्वन्द्वों को सहन करने को ही तप कहते हैं।

तपो द्वन्द्व सहनम्।

भक्ति-सागर में चरणदासजी ने इन्द्रियों के स्वाद लोलुपता की प्रवृत्ति को निवृत्ति मन का नियन्त्रण एवं प्रत्येक स्थिति में जाग्रत रहने की मनोवृत्ति को ही तप बताया है।

पहला तप इन्द्री वश कीजै,
इनके स्वाद सभी तजि दीजै॥
खाते पीते सोवत जागत,
योगी इन्द्रिन कूँ वश राखत॥
तनकूँ वश कर मनकूँ मारे,
ऐसी विधि तप का अंग धारै॥

साधक को तप का अभ्यास करते समय यश-मान या कोई आकांक्षा नहीं रखना चाहिए। क्योंकि यह राजसिकता अहं भाव बढ़ा देती है, जिससे साधक अन्तर्मुखी हो जाता है। योग शास्त्रानुसार—

असम्माने तपो वृद्धि सम्मानाच्च तपक्षयः।

अर्थात् असम्मान् से तप में वृद्धि एवं सम्मानसे क्षय होता है। असम्मान की स्थिति में साधक असंकल्प शक्ति के साथ अपनी

साधना में जुटाता है। इसीलिए तो कबीर ने कहा है—

निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना निर्मल करे सुभाय।।

तपरूपी साधना को अपनाने से शरीर स्वस्थ एवं निर्मल हो जाता है तथा तेज का प्रवेश होता है। मन एवं बुद्धि के विकार और द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। महर्षि पतंजलि के अनुसार—

कायेन्द्रि सिद्धिशुद्धि क्षया तपसः।

अर्थात् तप की सिद्धि से शरीर, मन, बुद्धि की अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं और इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है। तुलसीदास जी ने तप की शक्ति को इस रूप में उद्धृत किया है—

तप बल रचे प्रपंच विधाता,
तप बल विष्णु सकल जग त्राता।
तप बल शम्भु करहिं संघारा,
तप बल शेष धरहिं महिभारा।
तप आधार सब सृष्टि भवानी,
करहु जाहि तप अस जिय जानी।

सन्तोष—इसका अर्थ अपने शरीर, मन एवं बुद्धि के द्वारा उपार्जित सम्पत्ति से अधिक की इच्छा न करना बल्कि सन्तुष्ट रहना एवं कम अर्जित होने पर शोक न करने से है। साधक जब अपनी आवश्यकताओं पर सीमित हो जाता है तो वासना का क्षणिक सुख तिरोहित हो जाता है यह सन्तोष वृत्ति चित्त में स्थिरता एवं आनन्द ले आती है।

सन्तोष परमावस्थाय,
सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोष मूल हि सुखं
दुःख मूल विपर्यय।।

अर्थात् सन्तोष वृत्ति आ जाने पर साधक परम स्थिरता सुख एवं संयम को प्राप्त कर लेता है। साथ ही साथ असन्तोष दुःख का एवं सन्तोष सुख का आधार है।

साधक को चाहिए कि वह असंतोष का भाव अपने चित्त में न लाने, क्योंकि इसके आने से चित्त हमेशा अशान्त बना रहता है। फलस्वरूप उसमें काम, क्रोध, मोह, लोभ, ईर्ष्या द्वेषादि का आना सम्भव हो जाता है। भक्ति-सागर के अनुसार हानि-लाभ, सुख-दुःख हर स्थिति में समभाव वृत्ति ही सन्तोष गुण है।

दूजा अंग कहूँ सन्तोषा,
हानि भये नहिं माने शोका।
लाभ भये नाहीं हरषाते,
ऐसो सद्गुण हिए में लाते।
परारब्ध तन होय सु होई,
संकल्प विकल्प रचे न कोई।

सन्तोष के महत्व पर सन्त कबीर ने भी कहा है—

गोधन गजधन वाजिधन और रतनधन खान,
जब आवे संतोषधन सब धन धूरि समान।

महर्षि पतंजलि के अनुसार—

सन्तोषादनुत्तम सुख लाभः

अर्थात् संतोषवृत्ति से साधक को सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है, क्योंकि साधक अपनी आवश्यकता पर सीमित हो जाता है।

साईं इतना दीजिये जा में कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय।।

आस्तिकता—आस्तिकता से अभिप्राय आराध्य के प्रति अटूट प्रेम विश्वास या आस्था से है।

अस्ति ईश्वरे मति यस्य स आस्तिकः।

मन, वाणी कर्म के द्वारा आराध्यदेव के चरणों में निष्काम भाव होकर समर्पण की भावना को ही आस्तिकता कहते हैं। यह

आस्था ईश्वर के प्रति अपने धर्म के अनुरूप होती है। सिर्फ एक ईश्वर की सत्ता है बाकी सारा संसार सारी सम्पदाएँ ऐश्वर्य सामग्री नश्वर एवं अनित्य हैं। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है या जब साधक में 'ब्रह्म सत्यं जगद्-मिथ्या' का भाव प्रतिष्ठित होता है तभी वह सच्चे अर्थोंमें आस्तिक बनता है। बिना श्रद्धा एवं विश्वास के कभी भी सिद्धि या सफलता नहीं हो सकती, नहीं वह संसार के आकर्षण से मुक्त हो सकता। इस सन्दर्भ में रामचरित मानस की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं--

श्रद्धा बिना भजन नहीं होय,
बिनुमही गन्ध की पावे कोय।
सिद्धि किये बिन विश्वासा,
बिनु हरि भजन न भव भय नासा॥

भक्ति सागर के अनुसार—

तीजा आस्तिक अंग है जाको सुनो विचार।
समय-समय मन में परों ताको गये संसार॥
शास्त्र सुने प्रतीत जो कीजे,
सन्तवह्मा निश्चय कर लीजे।
बुध निश्चय आतम के माहो,
जगत सांच करि मान नाही॥

आराध्यदेव के प्रति जिसकी जैसी आस्था होती है, उतनी ही उसे सफलता प्राप्त होती है।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए मात्र नाम सुमिरन से ही मानव का कल्याण हो जाता है।

नाम लेत भवसिन्धु तराहीं।
करत विचार सुजन मन माहीं॥

आस्तिकता की प्रतिष्ठा होने पर साधक में अलौकिक शक्ति का समावेश होता है, जिससे वह दृढ़ निश्चयी एवं शक्तिमान हो जाता है और वह योग-साधना में निश्चित रूप से आगे बढ़ता रहता है।

दान—श्रेष्ठ काल, देश तथा उपयुक्त समय में सुपात्र को अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन, ज्ञान व किसी वस्तु में से कुछ देना ही दान का अभिप्राय है।

मान-सम्मान यश और स्वार्थ भावना एवं काम, क्रोध, हिंसा, मान से वशीभूत दान वर्ज्य माना गया है, इससे साधक के अन्दर राजसिक एवं तामसिक गुणों की वृद्धि होती है और वह अहङ्कारी हो जाता है। फल-स्वरूप योग-मार्ग में उसका बढ़ना कठिन हो जाता है।

भक्ति-सागर में दान दो प्रकार का बताया गया है—

(१) आध्यात्मिक दान, (२) अन्न दान।

अन्नदान को सर्वश्रेष्ठ दान माना गया है, क्योंकि इससे प्राणीकी जीवन-रक्षा होती है। इस दान की समता संसार में कोई दान नहीं कर सकता। इसलिए तो योगशास्त्र में कहा गया है कि—

अन्नेन सदृश दानं,
न भूतो न भविष्यति।
तस्मादन्न विशेषेण,
दातुमिच्छन्ति मानवाः॥

अतः मानव की भूख से तड़पती आत्मा को अन्नके द्वारा तृप्त करना चाहिए।

आध्यात्मिक दान के अन्तर्गत सदुपदेश के द्वारा अज्ञानी प्राणियों के हृदय में दिव्य ज्ञान देकर उनमें जीवन जीने की प्रतिभा का विकास किया जाता है, इससे उसके हृदय के समस्त विकारों का नाश होता है और वह सांसारिकता पर विजय प्राप्त कर लेता है।

दान निस्वार्थ भाव एवं जन-कल्याण की भावना से किया जाना चाहिए, क्योंकि जब न्याय अर्जित सम्पत्ति दान होती है तो दान-कर्त्ता साधक के मन में गौरव की अनुभूति होती है, जिसका प्रभाव उसके स्वास्थ्य एवं मस्तिष्क पर पड़ता है। फलस्वरूप साधक सदैव स्वस्थ एवं प्रसन्न चित्त रहता है। प्रतिफल की भावना से दान करने पर साधक के मस्तिष्क में विकारों का जन्म होता है। दान द्वारा सांसारिक जीव वश में हो जाते हैं एवं शत्रु नाश-गति को प्राप्त होता है। पराये लोग भी बन्धुत्व का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार दान मनुष्य की सभी बुराइयों को दूर कर देने में सक्षम होता है।

ईश्वर पूजा—अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास के साथ जो समर्पण का भाव होता है, ऐसे आस्तिक मन की स्थिति को ही ईश्वन पूजन कहते हैं। ईश्वर अदृश्य है वह अनन्त और शाश्वत है। वही इस जगत का सृजन और पालन करता है। अतः निर्मल मन होकर ईश्वर की सत्ता को स्वीकारते हुए शक्ति एवं भक्तिपूर्वक उसका पूजन करना ही ईश्वर पूजन है।

ब्रह्मसत्य जगत् मिथ्या

इसका भाव जब साधक के अन्दर प्रतिष्ठित हो जाते हैं, तब वह पूर्णरूपेण ईश्वर की निकटता का अनुभव करता है एवं आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में आता है।

तुलसीदासजी के अनुसार—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।

अर्थात् जीव को उसी ईश्वर का अंश बताया गया है। आत्मा अजर-अमर है। जब साधक को आत्मा के अमरत्व का बोध हो जाता है, तब वह सम्पूर्ण संसार के रहस्य को एवं ईश्वरके रहस्य को भलीभांति समझ लेता है। इस प्रकार समाधि का अन्तिम लक्ष्य आत्म-दर्शन एवं निर्लिप्तावस्था ईश्वर पूजन से ही सम्भव है। इसी स्थिति में महात्मा कबीर ने कहा है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नहीं।
सब अँधियारा मिट गया दीपक देखा माहीं।।

गीतामें महान योगी श्रीकृष्ण ने कहा है—

ईश्वर मानव मात्र के हृदय में व्याप्त है और मानव को अपनी माया के द्वारा कर्म में प्रवृत्त करता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति अर्जुन:
भ्रामयन सर्वभूतानां यन्त्रारूढानि मायया।

तुलसीदासजी के अनुसार—

सबहि नचावत राम गुसाईं।
नाचत सब मरकट की नाहीं।।

मानवमात्र के लिए आवश्यक है कि किसी भी रूप में उसका पूजन करें और वह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करें। यह उसके अहं भाव का नाश कराते हुए भव-बन्धन से मुक्त कराता है।

सिद्धान्त वाक्य श्रवण—

सिद्धांत श्रवणं प्रोक्तं वेदान्त श्रवणं बुधैः

अर्थात् विद्वानों ने वेदान्त ग्रन्थों के श्रवण को एवं उपदेश श्रवण को सिद्धांत वाक्यों का श्रवण माना है। वेदान्त ग्रन्थों के अध्ययन से अज्ञान का आवरण हटकर स्वच्छ ज्ञान की प्राप्ति होती है। परिणाम स्वरूप साधक को ईश्वरीय प्राप्ति होती है। परिणाम स्वरूप साधक को ईश्वरीय सत्ता का बोध होता है। और ऐसा होने से उसमें श्रद्धा और विश्वास का भाव जागृत होता है, जिसके कारण साधक को अलौकिक सुख की अनुभूति होती है एवं उसके मनोविकारों का नाश होता है।

उनका अन्तःमन सात्विक एवं पवित्र बनता है। आत्मा व परमात्मा का भेद उसकी दृष्टि में मिट जाता है, जिससे उसका स्वभाव साधु प्रकृति का हो जाता है। साधु के स्वरूप को सन्त कबीर ने इस रूप में स्पष्ट किया है—

साधू ऐसा चाहिए जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहै थोथा देहि उड़ाय॥

साधक को चाहिए कि वेदान्त ग्रन्थों का अध्ययन व उपदेश का श्रवण करे और सत्य को अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित करे। ऐसा करने से वह माया के आकर्षण से मुक्त हो जाता है एवं भगवान की सन्निकटता को प्राप्त करता है।

लज्जा—वैदिक और लौकिक भोगों में जो घृणित कर्म बताये गये हैं, उन्हें करने के प्रति मनमें जो सहज संकोच होता है, उसे ही लज्जा कहते हैं। लज्जा गुण साधक के चारित्रिक उत्थान में प्रमुख स्थान रहता है, यह साधक को बुरे कर्म करने के प्रति सदैव सतर्क एवं सचेत रखता है। जिसके कारण वह अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान रहता है। बुरे कारणों को मन से ही धारण नहीं करता। इसके विपरीत लज्जाहीन प्राणी देश, समाज एवं मानवता के लिए अभिशाप बन जाते हैं, वे किसी की परवाह किये बिना स्वार्थ साधन को ही अभीष्ट मानते हैं। शक्ति से सम्पन्न एवं ऐश्वर्यशाली लोग लज्जा के अभाव में जन-मानस का शोषण एवं घृणित कुकर्म भी करते हैं और वास्तव में ऐसे ही प्राणी मानवता के नाम पर कलङ्क हैं। इस प्रकार लज्जा गुण साधक ही नहीं, अपितु मानव मात्र के लिए कल्याणकारी एवं आवश्यक है।

मति—

विहितेषु च कार्येषु श्रद्धा या सा मतिर्भवति।

मति से तात्पर्य सद्बुद्धि या विवेक से है, मन में निहित अच्छे कार्यों के प्रति जो श्रद्धा या उमंग होती है उसे मति कहते हैं। यह २ प्रकार की मानी गई है—

(१) सुमति, (२) कुमति।

सुमति से तात्पर्य श्रेष्ठ मन स्थिति से है विवेक पूर्ण लिया गया निर्णय यदि सच्ची श्रद्धा एवं लगन से किया जाता है तो उसमें शीघ्र एवं निश्चित सफलता मिलती है।

दूसरी ओर विवेक शून्य साधक या मानव अपने लक्ष्य में सफल नहीं होता। अतः उसे समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती और इस असफलता से कारण उसके मन में खिन्नता का भाव जागृत हो जाता है। परिणाम-स्वरूप इसमें राग-द्वेष, क्रोधादि विकारों का प्राबल्य हो जाता है एवं मानसिक स्तर पर भी वह विकार-ग्रस्त तथा अस्थिर स्वभाव का हो जाता है।

यह सद्बुद्धि साधक को सद्ग्रन्थों के अध्ययन एवं साधु, गुरु या महापुरुषों के उपदेश श्रवण से प्राप्त होती है, उसके हृदय में सत्य का प्रकाश अलौकिक होता है। वह आत्मा और परमात्मा के भेद को जानने में सक्षम हो जाता है। अतः साधक के लिए आवश्यक है कि बुरे कार्यों के प्रति मन में भी विचार न करें। एवं अच्छी बातों को हृदयमें धारण करें। ऐसा श्रेष्ठ प्राणी ही संसार के हर क्षेत्र में सफल होता है, जबकि विवेक-हीन प्राणी शक्ति एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न होता हुआ भी विनाश को प्राप्त होता है।

मानस में कहा है—

जहाँ सुमति तहाँ सम्पत्ति नाना।
जहाँ कुमति तहाँ विपत्ति निधाना॥

जप—जप से तात्पर्य है कि वेदों के मन्त्रों

का गुरु से ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् वाणी के स्तर पर बारम्बार नियमपूर्वक अभ्यास करने से है। वाणी का जप ४ प्रकार का माना गया है।

(१) परा, (२) पश्यन्ति, (३) मध्यमा, (४) बैखरी।

(१) परा--इसमें साधक प्रभु के नाम का उच्चारण जोर-जोर से करता है, जिससे दूर बैठा व्यक्ति भी उस उच्चारण को सुन तथा देख सकता है। इसके अभ्यास से साधक की संकल्प शक्ति बढ़ जाती है।

(२) पश्यन्ति--इस जप में साधक धीरे-धीरे उच्चारण करता है, जिससे साधक के बहुत समीप आने पर उच्चारण सुनाई देता है। इसके अभ्यास से चेतन-शक्ति अन्तर्मुखी होने लगती है।

(३) मध्यमा - जप की ऐसी स्थिति जब साधक के होंठ हिलते हुए दीखते हैं, किन्तु उच्चारण सुनाई नहीं देता।

(४) बैखरी—जप की ऐसी स्थिति जब साधक के मन में ही उस शब्द या मन्त्र का उच्चारण करता है। न तो उसके होंठ हिलते हैं न ही उच्चारण सुनाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त एक और जप है।

अजपा—यह जप की ऐसी स्थिति है। जब साधक जप का प्रयास नहीं करता बल्कि सतत् उसके हृदय में बिना प्रयास ही जप चलता रहता है, यह जप की सबसे ऊँची स्थिति है।

जप के अभ्यास से साधक सभी बन्धनों से मुक्त होकर स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है।

उल्टा नाम जपत जग जाना।
वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।।

हवन—

हुतं हुताशनस्योक्तं समिधाग्रे प्ररोपणं।

हवन से तात्पर्य अन्न आदि श्रेष्ठ साम-ग्रियों को वेदोचित्त मन्त्रों के साथ अग्नि को समर्पित करने से है। यह दो प्रकार का होता है।

(१) लौकिक हवन, (२) आंतरिक हवन।

(१) लौकिक हवन—इसके अन्तर्गत हवन-कुण्ड में मन्त्रों के साथ पवित्र हवन-सामग्री की आहुति दी जाती है। यह हवन घर के प्रकोष्ठ (आंगन) में हवन-कुण्ड बनाकर किया जाता है।

(२) आन्तरिक हवन—इस हवन के अन्तर्गत साधक इन्द्रियों को वश में करता है एवं उनके विकारों, वासना, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार को ज्ञानरूपी अग्नि से भस्म करता है। यह यज्ञ साधक अपने हृदय में ही करना होता है।

हवन करने से वातावरण स्वच्छ एवं सुभाषित होता है। जिसमें साधक का मन शान्त एवं प्रफुल्लित रहता है एवं वह पूर्ण मनोयोग के साथ साधना में जुटा रहता है। हवन का मन प्राण और शरीर पर भी पूरा प्रभाव पड़ता है। साधक के सभी आभ्या-न्तरिक मलों का विनाश होता है। अतः हम कह सकते हैं कि साधक के लिए हवन करना आवश्यक है।

सर्वोत्तान

(● श्री गुरुदेवजी के सौजन्य से)

जीवन तत्त्व-साधन की प्रथम क्रिया का नाम 'सर्वोत्तान' है

इसे केवल तीन बार, अधिक से अधिक दो मिनट तक

योग शास्त्र में शवासन का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। सभी प्रकार के आसन व्यायाम के बाद शवासन करने का विधान है। स्वभावत: जब मनुष्य श्रम करते-करते थक जाता है तो हाथ-पैरों को तानकर अँगड़ाई लेता है इससे उसको बड़ा आराम मिलता है। थके हुए अंगों को विश्राम देने का ढंग शवासन है। शवासन जितना कहने-सुनने में आसान पड़ता है, उतना करने में आसान नहीं है। शवासन करते समय सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग ढीले हो जाने चाहिए। मन भी निर्विषय हो जाना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक शवासन से पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता है।

शवासन का परिमार्जित रूप ही सर्वोत्तान है, जिसे महाप्रभुजी ने निकाला है। इसको करने से शरीर में स्फूर्ति व नव-जीवन प्राप्त हो जाता है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जीवन तत्त्व-साधन की अन्य क्रियाओं के करने के पहले इसे कर लिया जाता है, इसके बाद अन्य क्रियाओं के करने में आसानी होती है।

सर्वोत्तान में दो क्रियाएँ हैं—तनाव व शिथिलीकरण अर्थात् (Tension & Relaxation) यूरोपीय योग-साधकों ने भी शवासन करने के लिए यही तरीका निकाला है कि चित्त लेटकर एक-एक अंगको ताना जाय और फिर ढीला छोड़ा जाय। इस तरह एक-एक हाथ, पैर, पेट, छाती, गर्दन को बारी-बारी से ताना जाय और फिर शिथिल किया जाय, इससे बड़ी शान्ति व आराम मिलता है।

एक बार मेरे कॉलेज में एक योगिराज आये। वे विदेशों में यौगिक क्रियाओं का प्रचार करते हुए भ्रमण कर रहे थे। उनसे लाखों व्यक्तियों ने योग व ध्यान की प्रक्रिया सीखी थी। मैंने उनसे पूछा कि विदेशों में आपके योग-साधन की ओर लोग क्यों इतना आकृष्ट हो रहे हैं? क्या उनमें हिन्दू-धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न हो रही है? योगिराज मुस्कराये और बोले कि विदेशों में हिन्दू-धर्म की तरफ किसी की रुचि नहीं है? वहाँ के मनुष्यों का जीवन यन्त्रवत् हो गया है और उनको शान्ति का अनुभव नहीं होता है, बिना नींद की गोली खाये उन्हें नींद नहीं आती है। आज विदेशों में नींद की गोलियाँ

बनाने वाले कारखानों की वृद्धि होती जा रही है। हमारे योग-साधन व ध्यान प्रक्रिया से उन्हें नींद आ जाती है, इसी से वे हमारी ओर आकृष्ट हो रहे हैं।

आज के वैज्ञानिक युग ने मनुष्य के जीवन को इतना जटिल बना दिया है कि उसे कभी शांति नहीं मिलती। सदैव भय, चिन्ता व तनावयुक्त जीवन जीने से हृदय-रोग व अन्य नये रोग उत्पन्न हो रहे हैं। यदि मनुष्य शिथिलीकरण की क्रिया को जान जाय तो उसकी अनेक समस्यायें दूर हो जाएँ और उसे सुखी व तनाव रहित जीवन जीने की कला मालूम हो जाय। शिथिलीकरण से शरीर व मस्तिष्क दोनों को आराम व शांति मिलती है। सर्वोत्तान शिथिलीकरण करने का सर्वोत्तम विधान है।

विधि—पीठ के बल चित लेट जाइये। यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन तत्व-साधन की क्रियाएँ करने के लिए किसी तख्ते या जमीन पर दरी, कम्बल या कालीन बिछा कर अभ्यास करना चाहिए। यदि आसन कड़ा होगा तो कष्ट मालूम होगा। किन्हीं-किन्हीं विद्वानोंका मत है कि यौगिक क्रियाओं के लिए आसन कम से कम दो इंच मोटा होना चाहिए।

ऐसे आरामदेय आसन पर लेट जाओ। हाथों को बगल में डाल दो और सारे शरीर को ढीला छोड़ दो। अब दोनों हाथों की उंगलियों को आपस में डालकर और उल्टा करके प्रथम नाभि के पास रखना चाहिए। अब धीरे-धीरे श्वास लेते हुए फेफड़ों को वायु से भर दो। श्वांस इस तरह लेनी चाहिए कि फेफड़े नीचे से ऊपर तक वायु से भर जावें और छाती ऊपर उठ जाये। इसके बाद जितना शरीर को तानो, हाथ-पैरों तथा शरीर के सभी अंगों को जितना तान सको, उतना तानो। फिर श्वांस भरे हुए और शरीर को ताने हुए दोनों हाथों को सिर के पीछे ले जाओ। श्वांस भरना, शरीर को तानना व दोनों हाथों को पीछे ले जाना ये तीन क्रियायें कहने में अलग अलग जान पड़ती हैं, किन्तु करने में साथ ही की जाती है। हाथ पीछे ले जाने के बाद तुरन्त ही शरीर को धीरे-धीरे ढीला छोड़ते जाना चाहिए और श्वास को धीरे-धीरे निकालते हुए हाथों को सिर के पास से लाते हुए नाभि तक ले जाना चाहिए फिर बगल में डाल देना चाहिए और शरीर को शिथिल कर देना चाहिए। कुछ सैकिण्ड के बाद पुनः यही क्रिया दुहरानी चाहिए। अर्थात दोनों हाथों की उंगलियों को आपस में डालकर और उल्टा करके श्वास भरते हुए व शरीर को तानते हुए हाथों को पीछे ले जाना चाहिए। फिर श्वांस निकालते हुए व शरीर शिथिल करते हुए हाथोंको नीचे लाना चाहिए।

यह क्रिया केवल तीन बार करनी चाहिए। एक बार की क्रिया करने में अनुमानतः २० से ४० सैकिण्ड तक लगते हैं। इस क्रिया में जितना शरीर में तनाव दिया जावे, उतना ही बाद को शरीर ढीला कर दिया जाय। सर्वोत्तान में तनाव व शिथिलीकरण यही दो प्रधान क्रियायें हैं। इस क्रिया को तीन बार करने के बाद एक मिनट तक हाथों को बगल में डाल कर और शरीर को ढीला करके बिल्कुल शान्त होकर पड़े रहना चाहिए। इसके बाद जीवन तत्व-साधन की दूसरी क्रिया करनी चाहिये।

सर्वोत्तान करने में प्रधानतः दो शारीरिक क्रियायें होती हैं। प्रथम श्वांस को भरना, रोकना व निकालना और दूसरे शरीर को

तानना व ढीला करना इन क्रियाओं से हृदय फेफड़े, नस-नाड़ियों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इन अंगों पर पड़ने वाले प्रभाव एवं लाभ को समझने के लिये शरीर रचना पर ध्यान देना चाहिए। जब हम हृदय व फेफड़ों की बनावट व क्रिया-कलाप को समझ लेंगे तो हमें स्पष्ट मालूम होने लगेगा कि सर्वोत्तान को विधिवत् करने में कितना लाभ होता है।

फेफड़े

यही श्वास-प्रश्वास की मुख्य इन्द्रियां है। ये कोमल छिद्र भरे और फैलने-सुकड़ने वाले होते हैं। इनका आकार एक मन्दिरके गुम्बद की तरह होता है। जिसका नोकदार सिरा गर्दन की ओर होता है और उनकी तली वक्ष गह्वर में होती है। फेफड़े दो होते हैं। ये वक्ष गह्वर में हृत्पिण्ड के दोनों ओर रहते हैं। इनका रंग कुछ कालापन लिये हुए लाल होता है। इनकी बनावट स्पंजकी तरह होती है, छिद्रित होती है कोमल व हल्के होते हैं। दाहिने फेफड़ों में तीन और बांये फेफड़े में दो खण्ड (Lobes) होते हैं। प्रत्येक खण्ड में और कितने ही छोटे-छोटे उपखण्डों में बंटा है। ये दोनों खण्ड झिल्ली से अलग रहते हैं। दोनों फेफड़े मिलकर वक्ष का करीब तीन-चौथाई भाग से भी अधिक घेर लेते हैं। दोनों फेफड़ों में अनुमानतः सात करोड़ बीस लाख वायु-कोष (Air Cells) होते हैं। यदि फेफड़ों के कोषों की लम्बाई-चौड़ाई में फैला दिया जाय तो उसका विस्तार चौदह हजार वर्ग फीट में हो जायेगा। इन्हीं के अन्दर धमनी, शिरा और केशिका नाड़ियाँ भरी रहती हैं। इन्हीं के वायु कोषों में हवा भरती है। ये कोष एक मांसपेशी की चाल से खुलते हैं और बन्द होते रहते हैं। जब ये कोष खुलते हैं, तब एक ओर से तो हृदय से अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास द्वारा लिया हुआ शुद्ध वायु दोनों मिलकर इसे भर देते हैं। इन वायु कोषों से मिली हुई असंख्य छोटी नलिकायें हैं। उनके और कोषों के बीच में महीन झिल्लीदार त्वचा का परदा रहता है। प्रकृति का एक विलक्षण नियम यह है कि जिसमें जो वस्तु नहीं होती, वह उसी को दूसरे से अपनी ओर खींचती हैं। रक्त में तो शुद्ध वायु (Oxygen) नहीं है और श्वास के द्वारा लिए हुए वायु में (Carbonic Acid Gas) नहीं है। इन दोनों में जब उपर्युक्त नियम काम करता है तो रक्त में से कार्बन वायु निकलकर श्वास के साथ और श्वास के द्वारा आये हुए वायु में से ऑक्सीजन वायु निकलकर रक्त में चला जाता है। श्वास के साथ जो वायु आती है, उसमें ७९% नाइट्रोजन तथा २१% आक्सीजन और ४% कार्बन और कुछ जल तत्व जाता है और ५% कार्बन बढ़ जाता है। इसका फल यह होता है कि रक्त शुद्ध हो जाता है और वायु अशुद्ध। शुद्ध रक्त तो हृदय में जाकर धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में चला जाता है और अशुद्ध वायु प्रश्वास द्वारा बाहर निकल जाता है। यह कार्य हर समय हुआ करता है।

फेफड़े के अन्दर २०० घन इंच वायु रहती है, जिसको (Stiteonary air) कहते हैं, इसके अतिरिक्त ३० घन इंच वायु बराबर श्वास-प्रश्वासके द्वारा आया-जाया करती है जिसको (Tidalair) कहते हैं। यदि हम दीर्घ प्रश्वास करके रेचक करें तो उस २०० घन इंच (Stritionary air) में से १०० घन इंच वायु और बाहर निकल जाती है। उसको बाहर निकल जाने वाली वायु को (Supplemen-tal air) कहते हैं और जो वायु १०० घन इन्च फेफड़ों में रह जाती है, (Residal air) है,

इस वायु को कोई नहीं निकाल सकता। यदि यह वायु भी निकल जाये तो मनुष्य की मृत्यु जायेगी। इसके अतिरिक्त यदि हम दीर्घ श्वास लेकर पूरक करें तो १०० घन इन्च (Complementary air) और भर सकते हैं। इस कुल ३३० घन इंच वायु भरने पर फेफड़े पूर्णतया फैल जाते हैं। किन्तु मामूली श्वास-प्रश्वास में अर्थात् केवल ३० घन इंच (Tidal air) लेने में फेफड़ों का कुल भाग नहीं खुलता और दो करोड़ वायु कोषों में वायु पहुंचती है और शेष इन ५।। करोड़ वायु कोषों में आया हुआ रक्त शुद्ध नहीं होता और अशुद्ध रक्त ही सारे शरीर में वापस चला जाता है और अनेक रोगों को उत्पन्न करता है।

हृदय

यह शरीर का बहुत महत्वपूर्ण अंग है। यह शरीर के लिए रक्त का प्रधान केन्द्र है। इस शरीर में दो प्रकार की नाड़ियाँ हैं—एक तो वे जो हृदय से सारे शरीर को जाती हैं और दूसरी वे जो शरीर से हृदय में आती हैं। पहली नाड़ियां धमनी और दूसरी शिरा कहलाती हैं। धमनियाँ हृदय से शुद्ध रक्त को समस्त शरीर में ले जाती हैं और शिराओं का काम यह है कि समस्त शरीर से अशुद्ध रक्त को शुद्ध होनेके लिए हृदयमें लाया करें।

हृदय के दो भाग हैं—एक दाहिना और दूसरा बांया। जो रक्त फेफड़ों में शुद्ध होकर आता है, वह हृदय के बांये भाग में जमा हो जाता है और अशुद्ध रक्त सारे शरीर से बह कर आता है, वह दाहिने भाग में जमा होता है। इन प्रत्येक दाहिने-बांये भागों में दो-दो कोष्ठ होते हैं। इस प्रकार हृदय में कुल चार कोष्ठ हैं, एक-एक ऊपर और एक-एक नीचे। ऊपर वाले को (Leftauricle) बांया ग्राहक कोष्ठ और (Right auricle) दाहिना ग्राहक कोष्ठ कहते हैं और नीचे वालेको (Liftventricle) बांया क्षेपक कोष्ठ और (Rightventricle) दाहिना क्षेपक कोष्ठ कहते हैं। इन दोनों भागों के बीच में एक छेद होता है, उसमें परदे लगे रहते हैं और इन परदों में छोटे-छोटे बन्धन लगे रहते हैं। जिनके संयोग से पर्दे खुलते और बन्द होते हैं। हृदय के चारों कोष्ठों से रक्त नालियों का सम्बन्ध रहता है। दाहिने ग्राहक कोष्ठ से शरीर के ऊपर व नीचे की दो बड़ी शिरायें मिलती हैं और दाहिने क्षेपक कोष्ठ से एक बड़ी धमनी निकलती है, जिसके दो भाग होकर दोनों फेफड़ों में जा मिलते हैं।

फेफड़ों से भी केशिकायें निकलती हैं, जो बांये ग्राहक कोष्ठ में जाती हैं। इसी प्रकार बांये क्षेपक कोष्ठ से एक बड़ी धमनी निकलती है, जिसकी शाखाएं सारे शरीर में फैली हुई हैं। प्रत्येक धमनीके मुंह पर अर्द्ध चन्द्रीकार पर्दे रहते हैं जो धमनी की ओर खुलते हैं और क्षेपक कोष्ठ की ओर बन्द होते हैं। हम यह बता चुके हैं कि हृदय के दो भागों में से दाहिने में अशुद्ध रक्त और बांये में शुद्ध रक्त रहता है। शुद्ध लाल रक्त सारे शरीर में जाकर शरीर का विकार लेकर कुछ काला हो जाता है। फिर वह हृदयके दाहिने ग्राहक कोष्ठ में जाता है और वहाँ से उतर कर दाहिने क्षेपक कोष्ठमें पहुंचता है। इन दोनों कोष्ठकों के बीच का पर्दा ज्योंही बन्द हुआ त्योंही हृदय संकुचित होता है और रक्त जोर से फेफड़ों में प्रविष्ट होता है। इधर फेफड़ों में आई प्राणवायु उस काले रंग के विकार को रक्त से चुराकर प्रश्वास द्वारा बाहर फेंक देती है और रक्त शुद्ध लाल हो जाता है। इस प्रकार फेफड़ों में रक्त शुद्ध हो जाने के बाद

वह हृदय के बायें ग्राहक कोष्ठ में आता है। फिर हृदय संकुचित होता है और रक्त जोर से प्रविष्ट होकर धमनियों में ही जाता है जो सारे शरीर में दौड़ता है। यह क्रिया प्रति क्षण हुआ करती है और जब दाहिने और बांये क्षेपक कोष्ठ संकुचित होते हैं, तब लुप-लुप की आवाज होती है। अनुमानत: २४ घंटे में २५२ मन रक्त हृदय से फेफड़ों में शुद्ध होने के लिए आता है। यह नहीं भूलना चाहिए कि ये केशिकायें व धमनियाँ जहाँ-जहाँ एक-दूसरे से मिलती हैं, वहाँ-वहाँ एक प्रकार के पर्दे (Gate Keeper) लगे हैं जो शरीर में शुद्ध और अशुद्ध रक्त का मिश्रण नहीं होने देते।

अब यह जानने की जरूरत है कि सात करोड बीस लाख वायु-कोष क्या हैं? ये धोबियोंके कुण्ड या टप हैं। जैसे धोबी अपनी कुण्डियोंमें पानी डालकर वस्त्र धोते हैं, इसी तरह रक्त इन वायुकोषों में भर कर श्वांस द्वारा ली हुई प्राणवायु से शुद्ध होता है, ऐसा अद्भुत धोबी-खाना संसार में और कहीं नहीं मिलेगा।

आक्सीजन एक प्रकार की भाप है। आप खुली हवा में जोर से श्वांस लीजिये तो नाक के भीतर की त्वचा एक प्रकार की मोटी जलन होगी। इसी ऑक्सीजन की तेजी से फेफड़े के उन वायु-कोषों के अन्दर भरे हुए रक्तका मैल जल जाता है। महर्षि मनु अपनी स्मृति में प्राणायाम का लाभ बताते हैं कि—

दह्यन्ते ध्मायमानानां,
धातूनां हि यथा मला:।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते,
दोषा: प्राणस्य निग्रहात् ॥

अर्थ—जैसे अग्नि में धौंके हुए धातुओं के मल दग्ध हो जाते हैं, इसी प्रकार प्राण के रोकने से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं।

अब विचारणीय बात यह है कि हृदय से रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़ों में जाये, परन्तु श्वांस के साथ वायु फेफड़ों में नहीं पहुँचे, अर्थात् सब वायु कोषों में रक्त पहुँचता है, शुद्ध वायु न पहुँचे तो उसका परिणाम क्या होगा? साधारण रीति से जो श्वांस लिया जाता है वह पूर्ण श्वांस नहीं होता। इसलिए फेफड़े के सब भाग नहीं खुलते अर्थात् दो करोड़ वायु कोषों में वायु पहुँचती है और शेष ५॥ करोड़ कोषों में वायु नहीं पहुँचती है। परिणाम यह होता है कि फेफड़ों के वे भाग रोगी होने लगते हैं और खांसी, दमा, क्षय, निमोनियाँ आदि अनेक रोग जो फेफड़ोंसे सम्बन्धित हैं होने लगते हैं। दूसरी ओर एक भयङ्कर परिणाम यह भी होता है कि हृदय से जो रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़ों में जाता है, वहाँ वह बिना शुद्ध हुए अशुद्ध ही वापिस चला आता है। हृदय भी उसे रोक नहीं सकता। वहाँसे वह धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में पहुँच जाता है। इसका फल रक्त विकार होता है। रक्त के विकृत होने से मामूली रोग खाज से लेकर भयंकर कुष्ठरोग तक हो जाता है।

इसलिए इन दुष्परिणामों से बचने के लिए भी आवश्यक है कि फेफड़े वायु से पूरित होते रहें और कोई कोष ऐसा नहीं रहने पाये जहाँ वायु न पहुँच सके। यहीं से दीर्घ श्वांस-प्रश्वांस की व प्राणायाम की आवश्यकता आरम्भ होती है।

सर्वोत्तान करते समय जब हम श्वास भरते हैं और शरीर को तानते हुए हाथ पीछे ले जाते हैं तो फेफड़ों के सारे वायु-कोषों में शुद्ध वायु पहुँच जाती है और हृदय से आया हुआ सम्पूर्ण रक्त शुद्ध होकर वापस आता है और इस तरह न तो हमारे फेफड़ों में कोई रोग होता है और न दूषित रक्त के कारण

शरीर के किसी भी अन्य भाग में कोई रोग होता है। रक्त में ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ जाने से बल, स्फूर्ति व नव-जीवन का संचार हो जाता है और यदि कोई रोग छिपे बैठे होते हैं तो वे भाग जाते हैं।

सर्वोत्तान में दूसरी क्रिया तानने व शिथिलीकरण की होती है, इससे रक्त-नलिकाओं में जमी हुई मैल बाहर निकल जाती है। जैसे किसी रबड़ की नली को साफ करने के लिए उसे दबाकर खींचते हैं और ढीला करते हैं। उसी तरह शरीर को तानने और ढीला करने से नलिकाओं में जमी हुई मैल छूटकर रक्त के साथ बाहर जाती है और शरीर के अंग जो मल को बाहर निकालते हैं उन्हीं के द्वारा वह मैल भी बाहर चली जाती है और शरीर शुद्ध होकर रोग रहित व कान्तिमय बन जाता है।

यह है सर्वोत्तान करने का अनुपम लाभ। अब हम जीवन तत्व-साधन की दूसरी क्रिया का वर्णन आगे करेंगे।

–: हम क्या करें :–

श्री रवीन्द्रनाथ झा

१. हम क्या करें ? .... जो तुम्हें करना चाहिए।

२. हमें क्या करना चाहिए ? .... वही जिससे तुम्हारा कल्याण हो।

३. कल्याण क्या है ? .... ब्रह्म की प्राप्ति।

४. ब्रह्म क्या है ? .... आत्मा ही ब्रह्म है।

५. आत्मा क्या है ? .... आत्मा को देखा नहीं जा सकता, जाना जाता है। आत्मा निश्चल है फिर भी मन से अधिक गतिशील है। आत्मा चेतन है, अमर है, अजन्मा है, असीमित है, जन्म-मृत्यु से परे है। वह दूर है और समीप भी है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और विशाल से भी विशाल है। वह सबके बाहर है और अन्दर भी। उसके रहने से शरीर प्राणयुक्त है और न रहने से शरीर मृत है।

६. वह कहाँ रहता है ? .... ग्यारह दरवाजे वाले पुर में।

७. ग्यारह दरवाजेवाला पुर कहाँ है ? .... स्वयं तुम हो।

८. वह कैसे ? .... ग्यारह दरवाजे वाला पुर यह शरीर ही है। २ आँख, २ कान, २ नाक, १ मुँह, १ नाभि, १ ब्रह्मरंध्र, १ शिश्न व १ गुदा =११ दरवाजे।

९. आत्मा को कैसे जाना जाय ? .... वह पुरातन-पुरुष कठिनता से दीख पड़ने वाले गूढ़ स्थान से अनुप्रविष्ट बुद्धि में स्थित, आध्यात्म योग की प्राप्ति द्वारा जाना जाता है।

१०. आत्म-ज्ञानी के लक्षण क्या हैं? .... आत्मा का ज्ञान हो जाने पर बुद्धिमान पुरुष हर्ष-शोक से मुक्त हो जाता है।

समाज की मौन-स्वीकृति से अपराध होता है

● श्री मनोहर मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

वन की झुटपुट में प्रशान्त महासागर-सा शान्त योगी खड़ा है। एक ग्वाला गायें लिये आया और इधर-उधर चरती हुई गायों को योगी के सुपुर्द कर हवा में कुछ कहता-सा लौट गया। संध्या को ग्वाले ने देखा-प्रस्तर प्रतिमा-सा योगी खड़ा था पर गायें नदारद। गायों को न पाकर उसकी त्योरियाँ चढ़ गयीं। उसका सन्देह रुक-रुककर सामने खड़े योगी पर जाता था। वेश योगी का और काम चोर के। ग्वाले की आँखों से अंगार बरसने लगे। गायों को बाँधने के लिए लायी हुई कीलें उसने योगिराज महावीर के कानों में ठोंक दीं।

अपने प्रभु पर विपत्ति का पहाड़ टूटते देख देवराज इन्द्र का खून खौल उठा, 'आज्ञा दीजिये, देव! एक ग्वाला मेरे आराध्य पर इतनी बर्बरता बरसाये? इन्द्र की आँखें सह नहीं सकतीं। जल्दी कीजिये देव! हाथों से वज्र फिसला जा रहा है।

और महावीर बोले—

'अधीर न हो, देवेन्द्र! वाणी में मिश्री घोलते हुए महावीर ने फिर कहा—'तुम्हें विश्वास है, देवेन्द्र! तुम्हारा वज्र ग्वाले को समाप्त कर सकता है।

'हाँ हाँ भगवन्! वज्र का एक ही प्रहार काफी है। मूर्ख ग्वाले का सिर धूल में लोटने लगेगा।' देवेन्द्र ने कहा?'

'भोले न बनो देवेन्द्र? तुम्हारा वज्र शरीर को मार सकता है। पर क्या आत्मा को भी मार सकता है? आत्मदर्शन जरा गहराई से समझो। तुम्हारे एक नहीं, हजार अस्त्र भी आत्मा के एक अणु को मारने में असमर्थ हैं, क्योंकि हर आस्तिक दर्शन आत्मा की शाश्वत मुसकान में विश्वास रखता है। जब तक आत्मा की दुर्वृत्तियाँ न मरीं, तब तक शरीर को मार देना कोई महत्व नहीं रखता।'

'दर्शन की पहेलियों को बुझाना दार्शनिकों का काम है। वहाँ मुझ जैसों का प्रवेश नहीं है भगवन्! पर योगीश्वर का अपमान देखने की ये आंखें आदी नहीं हैं।'

देवेन्द्र की अबोधता पर महावीर मुसकरा उठे और बोले, देवेन्द्र! दण्ड शक्ति की असफलता तो ये आँखें देख चुकी हैं। तीस वर्षों तक पिता के साम्राज्य में दण्ड शक्ति के प्रयोग देखे हैं। यदि दण्ड का डण्डा जीवन को बदल सकता तो मुझे वन की राह न लेनी पड़ती। पुलिस की हथकड़ियाँ अपराधी को मिटा सकती हैं, अपराध को नहीं। वह व्यक्ति को समाप्त कर सकता है, वृत्ति को बदल लेने की क्षमता न वज्र में है, न लोहे की बेजान शृंखलाओं में। तलवार की धार यदि जीवन को बदल सकती तो ऋषि की उपदेश धारा अवतरित ही नहीं होती।'

अपराध और अपराधी की मनोवृत्ति का विश्लेषण आगे बढ़ाते हुये महावीर बोले—'तुम और तुम्हारे समाज की आँखें केवल अपराधी को देखती हैं, किन्तु परिस्थितियों के

वे धागे उनकी स्थूल आंखों में नहीं समाते, जिनसे बँधकर वह अपराध के लिए प्रेरित होता है।'

जीवन के शान्त एकान्त क्षणों में कभी एक क्षण भी सोचा था कि व्यक्ति जीवन की सीमा-रेखा का अतिक्रमण करता है पर इसके लिए उसे विवश करने में तुम और तुम्हारे समाज का कितना हाथ है ? यदि अपराधी को तुम घृणा से न देख स्नेह और सहानुभूति के आलोक में देखने का प्रयास कर सको और कोलाहल में उसके धड़कते दिल की धड़कन सुन सको तो तुम्हें उसकी सरलता-पवित्रता के दर्शन हो सकते हैं और यह भी निश्चित है कि बिना समाज की मौन स्वीकृति के एक व्यक्ति अपराध कर ही नहीं सकता। चर्खे का एक धागा टूटने पर चतुर जुलाहा पूरे चर्खे को देखता है।

जल्दी न करो देवेन्द्र ! शीघ्रता कभी अनर्थ भी करा देती है। अपराधी के मनोविज्ञान को देखो।

और महावीर मौन हो गये। जीवन के अन्तर्विज्ञान को पाकर देवेन्द्र गद्‌गद हो गये। और भगवान महावीर के चरणों से लिपट पड़े।

—: सुभाषित :—

सम्पत्ति किसी के पास स्थिररूप से नहीं रहती है। साहित्य में लक्ष्मी को "चपला" इसीलिए कहा है कि वह स्थिररूप से कहीं टिकती नहीं। अतः सम्पन्न व्यक्ति को चाहिए कि सम्पत्ति (धन-धान्य, बल, कुटुम्ब, पद आदि) का मिथ्या अभिमान न करे।

वित्त की तीन गतियाँ है दान, भोग और नाश। सम्पत्ति स्वयं भोग करिए या उसका दान करिये। स्वयं भोग करना और दान करना दोनों कर्म मनुष्य कर सकता है। जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का न तो दान करता है, न ही स्वयं भोग करता है। उसका नाश अवश्य होगा। पड़े-पड़े सड़-गल जायेगी या चोर चुरा लेगा या डाकू, जबरदस्त व्यक्ति ले जायगा।

इसलिए वह सम्पन्न व्यक्ति, जिसके पास अपने भोग से अधिक सम्पत्ति है, वह उसका दान करे।

अभावग्रस्त की आवश्यकता करने की इच्छा की प्रवृत्ति साधारण मनुष्यों में साधारणतया पाई जाती है। थोड़ा बहुत देने की प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में है। विपदग्रस्त की सहायता, निःस्वार्थ-भाव से करना ही मनुष्यत्व है। हमारे पास भूखा आ जाय तो हम उसे भोजन करा सन्तुष्ट होते हैं। कपड़ा भी देते हैं, पैसा भी देते हैं। कुछ विद्वान लोग विद्या भी देते हैं। कुछ महानुभाव, निःस्वार्थ भाव से संगठन भी करते हैं। धन्य हैं वे पुरुष, जो जाति, धर्म, राष्ट्र के लिए अपना तन, मन, धन के साथ-साथ प्राण भी अर्पित कर देते हैं।

देश काल और प्राणी की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर दिया गया दान, सहायता उचित समझी जाती है। मनु महाराज ने ब्रह्मदान को सर्वश्रेष्ठ कहा है—

जल, अन्न, गाय, भूमि, वस्त्र, तिल या तेल सुवर्ण, घृत आदि पदार्थों के दान की अपेक्षा विद्या (ब्रह्म ज्ञान) का दान सर्वोत्तम है। —दर्शनानन्द

ज्योति और धुआँ

जे० कृष्णमूर्ति

दिनभर खूब गर्मी रही। घर से निकलना मुसीबत का सामना करना था। इस गर्मी से सड़क और पानी की चमक आसपास के घरों की सफेदी से मिलकर और भी झलमला रही थी तथा ताप दे रही थी। पहले की हरी-भरी जमीन गर्मी से झुलस गयी थी। सूर्य के तेज से उसका सुनहरापन खूब चमचमा रहा था। वर्षा आरम्भ होने में अभी कई महीनों की देर थी। वह छोटा-सा सोता सूख गया था। उसके घुमावदार जलप्रवाह के स्थान पर अब बालू की पट्टी दिखाई पड़ रही थी। वृक्षों की छाया में अनेक पशु खड़े थे। उनका चरवाहा दूर बैठकर पत्थर फेंक रहा था। उनका गाँव दूर था और यहाँ वह अकेला था। अपने अकेलेपन में वह गीत गुनगुनाकर जी बहला रहा था। यों वह बड़ा दुबला-पतला था, शायद आधे पेट ही रहता था। फिर भी वह खुश था और उसके गीत में उदासी की कोई झलक नहीं थी।

वह घर टेकड़ी के उस पार था। सूर्यास्त के समय हम वहाँ पहुंचे। घर की छत से समुद्र किनारे के पीले-पीले बालू के मैदान तक ताड़ के ऊंचे-ऊंचे पेड़ों के हरे-हरे सिरों की पाँत फैली दीखती थी। ताड़ के पेड़ों के हरे रंग में सुनहरी झलक थी। इस कारण या कौन जाने, उनकी छाया पीली-पीली दीख रही। उनसे लगे हुए उस पीले-पीले बालू के मैदान के उस पार हरी राख के रंग का सागर फैला हुआ था, जो सफेद-शुभ्र लहरों को ठेलता हुआ गरज रहा था। लेकिन आगे का गहन समुद्र-प्रवाह शान्त, निस्तब्ध था। उधर दूर, पश्चिम में सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था, इधर पूर्व में समुद्र पर बादल रंग-बिरंगा रूप ले रहे थे। सांध्य-तारा अभी-अभी निकला था। ठण्डी हवा अब चलने लगी थी। लेकिन छत अभी गरम थी। कुछ थोड़े से लोग वहाँ जमा थे। उन्हें आये कुछ देर अवश्य हुई होगी।

वह कह रही थी : "मैं विवाहित हूँ और मेरे कई बच्चे भी हैं। लेकिन प्रेम की भावना मैंने कभी महसूस ही नहीं की। अब मुझे शंका होने लगी है कि क्या प्रेम-भावना का कोई अस्तित्व भी है! हम नाना प्रकार की संवेदनाओं को समझते हैं, विविध वासनाओं और लालसाओं को जानते हैं, तरह-तरह के उद्दीपनों से और मन को सन्तोष देने वाले सुखों से भी हम परिचित हैं। लेकिन ऐसा नहीं लगता कि हम प्रेम-भावना को समझते हैं। 'हम प्रेम करते हैं' ऐसी भाषा का हम उपयोग तो अक्सर करते हैं, पर शायद हम सदैव अपने भीतर कुछ चीज रखे रहते हैं। ऊपर-ऊपर से शारीरिक दृष्टि से हम भले ही आत्मसमर्पण कर दें और हाथ में कुछ न रखें, आरम्भ में स्वतः का सम्पूर्ण दान भी कर दें, फिर भी हम कुछ न कुछ हाथ में रख ही लेते हैं। हमारी ओर से किया जाने वाला दान केवल इन्द्रिय-संवेदनाओं के द्वारा होने वाला दान है। पर दान देनेवाला दाता तो

अभी सो ही रहा है। वह कहीं दूर है, बहुत दूर। हम परस्पर मिलते हैं, एक-दूसरे का आलिंगन करते हैं, पर इस मिलन में चारों ओर धुआं ही हमें लपेटे रहता है, ज्योति का कहीं पता नहीं रहता। सोचने की बात है कि यह ज्योति हमारे हृदय में क्यों नहीं जगमगाती? अथवा यह ज्योति धूम्ररहित क्यों नहीं होती? हम बहुत चतुर, बहुत चालाक हो गये हैं। शायद इसीलिए वह सुगन्धि हमें प्राप्त नहीं होती, ऐसा मुझे लगता है। बहुत अध्ययन के कारण, अत्यधिक आधुनिक हो जाने के कारण शायद मैं बुरी तरह उथली-सी हो गयी हूं। यों मैं बड़ी होशियारी से बात करती हूं पर भीतर से अब मुझे ऐसा लगने लगा है कि मैं महामूर्खा हूं।"

लेकिन क्या यह प्रश्न बुद्धिहीनता का है? प्रेम क्या कोई दुष्प्राप्य आदर्श है? क्या वह ऐसा साध्य है कि सारी शर्तें पूरी करने पर ही प्राप्त होता है? इन शर्तों को पूरा करने का समय भी मनुष्य के पास है क्या? हम हमेशा सौन्दर्य का नाम लेते रहते हैं। लेखन से, चित्रकारी से, नृत्य से और प्रवचनों से उसे व्यक्त करते रहते हैं। लेकिन स्वयं हममें वह सौन्दर्य नहीं होता। उसी तरह प्रेम भी हमारी समझ में नहीं आता। हम केवल इन शब्दों को जानते हैं।

ग्रहणसुलभ होना खुले होना, संवेदनशील होना है। जो ग्रहणसुलभ होता है, वह अरक्षित होता है। आगामी कल से, भविष्य से वह पूर्ण मुक्त होता है। जो खुला होता है, वह अज्ञात होता है, अव्यक्त और सुन्दर होता है। जो संकुचित और परिवेष्ठित होता है वह बुद्धिहीन और संवेदनशून्य होता है। चातुरी की भाँति बुद्धिहीनता भी स्वरक्षणका एक प्रकार है। हम एक ओर का दरवाजा खोलते हैं और दूसरी ओर का बन्द कर लेते हैं। क्योंकि, हम खुली हवा एक विशेष दरवाजेसे ही चाहते हैं। न तो हम कभी कमरेके बाहर जाते हैं और न हम सारे दरवाजे और खिड़कियाँ एक साथ खोलते हैं। संवेदनशीलता कालान्तर से प्राप्त की जाने वाली वस्तु नहीं है। बुद्धिहीन कभी संवेदनशील नहीं बन सकता। बुद्धिहीन सदैव बुद्धिहीन ही रहता है। मूर्खता का रूपान्तर बुद्धिमत्ता में कभी नहीं होता। बुद्धिमान बनने का प्रयत्न करना मूर्खता का ही लक्षण है। यही हमारी कठिनाई है। है न? हम सतत कुछ विशिष्ट होने का प्रयत्न करते रहते हैं और इसीलिए हमारी मूर्खता चालू रहती है।

"तब हम करें भी तो क्या?"

कुछ मत कीजिये। आप जैसी हैं, वैसी ही रहिये। संवेदनशून्य हैं तो वैसी ही रहिये। कुछ भी विशेष रूप से करते रहने का अर्थ है—जो है उसकी ओर दुर्लक्ष्य करना और ऐसी दुर्लक्ष्यता तो बुद्धिहीनता की चरमसीमा ही है। बुद्धिहीनता से कुछ भी करने के प्रयत्न में बुद्धिहीनता ही रहती है। जो संवेदन-शून्य होता है, उसका संवेदनशील बनना सम्भव ही नहीं है। आपके वास्तविक स्वरूप को ध्यान में लाना ही उसके हाथ में है। इस तरह वह संवेदनशून्यता अपनी कथा स्वयं ही कहने लगती है और अपना स्वरूप उघाड़कर दर्शाती है। अपनी इस संवेदनशून्यता में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न न करें। क्योंकि, हस्तक्षेप करनेवाला जो है, वही स्वयं संवेदन शून्य और बुद्धिशून्य है। आप कुछ न करें। केवल शान्तिपूर्वक सुनती रहें। वही आपको अपनी कहानी सुनायेगी। जो कुछ आप सुनती रहें, उसका कोई अर्थ लगाने का भी प्रयत्न न करें, उस

विषयमें कोई कृति न करें। किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करते हुए और भाष्य न करते हुए अन्त तक यह कहानी शान्तिपूर्वक सुनती रहें। इसके बाद ही आपकी ओर से सच्ची सहजकृति होगी। कृति क्या होती है, यह महत्व की बात नहीं है। महत्व की बात है—उस कहानी को शान्तिपूर्वक सुनना।

दान करने के लिए दाता होना चाहिए अक्षय, अनंत। हाथ रोककर जब दिया जाता है, तब वहाँ समाप्ति का भय रहता है इसलिए हाथ रुक जाता है, लेकिन जहाँ समाप्ति है, वहीं अक्षय उदित होता है। देते रहने का का अर्थ समाप्ति नहीं है। अपने पास बहुत होने पर भी दिया जाता है, अल्प होने पर भी दिया जाता है। लेकिन जहाँ अधिक और कम होता है, वहाँ लेन-देन का भाव रहता है, वहाँ मर्यादितपन ही रहता है। यह मर्यादितपन, यह संकुचितता ही वह 'धुआं' है। यह धुआं मत्सर, क्रोध, निराशा आदि के रूप में प्रकट होनेवाली मनुष्य की अभिलाषा ही है। धुआं ही कालका भय, स्मृति या अनुभूति है। ऐसी स्थितियों में कुछ भी नहीं दिया जाता। दिया जाने जैसा जो लगता है, वह केवल धुएंका विस्तार है, यहाँ हाथ रुक जाना अपरिहार्य है। क्योंकि यहाँ देने जैसा कुछ होता ही नहीं। दूसरे को सहयोगी बनाना भी देना नहीं है। सहभागी बनाना और देना परस्पर सुसंवाद को समाप्त करना है। यह सब धुआं ही है। धुएँ का अर्थ ज्योति नहीं है, लेकिन हम धुएँ को ही ज्योति समझ बैठते हैं। यहाँ है वह धुआं है, इतना बोध बना रहने दीजिए, ज्योति का दर्शन पाने के लिए धुएं को फूंकने का प्रयत्न न कीजिये।

"इस ज्योति का प्राप्त होना सम्भव है न? अथवा वह थोड़े से भाग्यवानों को ही प्राप्त होती है?"

ज्योति थोड़ों के लिए है या बहुतोंके लिए, यह मुद्दा ही नहीं है। है या नहीं? यदि हम इस मुद्दे में उलझ जायेंगे तो अज्ञान और भ्रम के अतिरिक्त उसमें से अन्य कुछ निकलेगा नहीं। हमें केवल ज्योति से ही मतलब है। वह ज्योति, वह धूम्ररहित ज्योति आपको मिल सकती है क्या?—यह खोजिये। निस्तब्धतापूर्वक और सहनशील रहकर धुएँ का निरीक्षण करते रहिए। आप उस धुएँ को मिटा नहीं सकेंगी; क्योंकि आप स्वयं वह धुआं हैं। जैसे-जैसे यह धुआं मन्द होगा, वैसेन वैसे ज्योति दिखाई देने लगेगी। यह ज्योति अक्षय है, अव्यय है। हर बात का आदि और अन्त है। हर चीज शीघ्र ही समाप्त हो जाती है, घिस जाती है। हृदय घेरने वाली सारी मनोनिर्मित बातें जब पूरी तरह नष्ट होकर हृदय रीता हो जाता है, मन का एक-एक विचार जब पूरी तरह नष्ट हो जाता है, तभी प्रेम का उदय होता है। जो रिक्त होता है, वही वस्तुतः अक्षय और अनन्त होता है।

सङ्घर्ष ज्योति और धुए के बीच नहीं होता, बल्कि धुएँ के क्षेत्रमें जो आदान-प्रदान या आह्वान-प्रत्युत्तर चलते हैं, उन्हीं में यह सङ्घर्ष चलता रहता है। ज्योति और धुएँ में परस्पर सङ्घर्ष कभी सम्भव ही नहीं। परस्पर संघर्ष के लिए पारस्परिक सम्बन्ध का होना आवश्यक है। लेकिन ज्योति और धुएँ में किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव भी है क्या? जहाँ एक रहता है, वहाँ दूसरा रह ही नहीं सकता। जब धुएँ का अन्त होता है, तभी ज्योति का उदय होता है।

सत्य और असत्य : मौलिक गुण-दोष

● आचार्य श्री विनोबा

कभी-कभी सत्य की व्याख्या के बारे में पूछा जाता है। ऐसा पूछना ही गलत है। एक बार एक भाई ने पूछा कि 'सत्य क्या है?' मैंने कहा—'सत्य है खजूर!' उसने समझा कि मैं विनोद कर रहा हूँ। फिर मैंने कहा—'अगर आपको लगता है कि सत्य खजूर नहीं, तो बादाम समझ लें।' यह बात भी उसे नहीं जँची। तब मैंने कहा—'दीखता है, सत्य क्या चीज है, यह आपको मालूम है। कारण, मैं जिस-जिस चीज का नाम लेता हूँ वह आपको नहीं जँचती। फिर आप ही बताइये कि सत्य क्या है? उसी के अनुसार मैं व्याख्या करूँगा। सत्य की व्याख्या भी सत्य की कसौटी पर कसी जायगी।'

वास्तव में सत्य की कोई व्याख्या हो ही नहीं सकती। सत्य स्वयं स्पष्ट है। इतना स्पष्ट दूसरा कोई तत्व नहीं। अहिंसा की व्याख्या में काफी कठिनाई होती है। लेकिन सत्य के विषय में ऐसी बात नहीं।

सत्य यानी 'है'। संस्कृत में सत्य का अर्थ 'नैतिक सत्य' (मॉरल ट्रुथ) करते हैं। किसी भी चीज की व्याख्या करनी हो तो सत्य ही उसका आधार है। अमुक मनुष्य सत्यवादी है, तो नैतिक दृष्टि से सत्य की व्याख्या की जा सकती है। लेकिन परम सत्य (सुप्रीम ट्रुथ) का विचार हो तो उसकी व्याख्या नहीं कर सकते।

जिससे हम अन्तरात्मा को पहचानते हैं और अन्तरात्मा का समाधान होता है, वही सत्य है। जिससे अन्तरात्मा को असमाधान होता या धक्का लगता है, वही असत्य है। अर्थात् अन्तरात्मा ही सत्य-असत्य का साक्षी है।

अनुभूतियाँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। एक डकैत कह सकता है कि 'मैंने यह काम अपने बाल-बच्चोंके लिए कर्तव्य-भावनासे किया।' लेकिन यह ठीक नहीं, क्योंकि सत्य में समत्व होता है। यह दूसरी पहचान है। सत्य में सन्तुलन (बैलेन्स) है, जहाँ चित्त का इधर-उधर झुकाव नहीं होता। सत्य में समदर्शन है, समाधान है, अन्तःसमाधान है, तेरे अन्दर में एक आवाज उठती है। उसके साथ तू चलता है तो सत्य पर चलता है ऐसा होगा। फिर तो तुझे गंगा जाने की, तीर्थ नहाने की जरूरत नहीं। न्याय-निर्णय देते समय न्यायाधीश सत्य पर रहने की कोशिश करता है। जहाँ समत्वयुक्त निर्णय होता है वहाँ सत्य है। सत्य के लिए समत्व आवश्यक है।

जीवन का सत्य से सम्बन्ध

अब जीवन का सत्यके साथ क्या सम्बन्ध है? जीवन का स्वरूप है : 'सत्य-शोधनम्।' मैंने एक श्लोक ही बनाया है—

वेद-वेदान्त गीतानां,
विनुना सार उद्धृतः।
ब्रह्म सत्यं जगत् स्फूर्तिः
जीवनं सत्यशोधनम्॥

गांधीजी ने ऐक्सपेरिमेण्ट्स विथ ट्रुथ—सत्यके प्रयोग कहा। मैं प्रयोग के बदले 'सत्य की खोज' शब्द पसन्द करता हूँ। 'प्रयोग'

विज्ञान का शब्द है। सत्य का एक-एक अंश हाथ में आता है। पूरा सत्य एक साथ हाथ में नहीं आता।

अब सत्य कैसे प्राप्त हो? यह सवाल है। गांधीजी ने कहा था कि सत्य प्राप्त हो सकता है अहिंसा से। मेरा विचार है कि सत्य प्राप्त होता है नम्रता, तटस्थता और अनाग्रह से। नम्रता और अनाग्रह हो तो सत्य हाथ में आ जाता है, विज्ञान में यही बात है। उसमें अनाग्रह होता है। प्रयोग में जो सही सिद्ध होगा, वही सही माना जायगा।

सत्य मौलिक गुण

सत्य एक बुनियादी मौलिक गुण है, सबसे श्रेष्ठ नीति-धर्म है। एक ओर सारा नीतिशास्त्र और दूसरी ओर केवल सत्य हो, तो दोनों की तुलना में सत्य का पलड़ा ही भारी सिद्ध होगा। इसलिए दूसरे सारे नीति-धर्म सत्य की तुलना में गौण हैं। आत्म-प्राप्ति के लिए सत्य अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु है। सत्य का अर्थ केवल वाणी का सत्य नहीं, मनसा-वाचा-कर्मणा सत्य है। मनुष्य का जीवन सत्य पर खड़ा रहेगा, तभी उसे आत्मा का दर्शन होगा। परमेश्वर तक पहुंचने का मार्ग सत्य से ही बना है।

सत्य बुनियादी चीज है। महापुरुषों में कई दोष होते हैं। हमने सुना है कि ऋषि क्रोध करते थे। लेकिन कोई झूठा हो और फिर भी वह सत्पुरुष हो, ऐसा नहीं हो सकता। प्राचीन काल से आज तक सत्य को महत्व दिया गया और बुनियादी चीज माना गया।

सत्य के ये भारी-भरकम अपवाद

लेकिन बुनियादी का अर्थ जहाँ महत्व देना होता है वहीं मामूली भी होता है। जैसे बुनियादी-शाला यानी प्राथमिक-शाला। उसी दृष्टि से लोग समझते हैं कि सत्य तो पहले दर्जे का गुण है, कालेज का नहीं। इसलिए वे असत्य को अपने जीवन में स्थान देते हैं। जिनका सारा व्यवहार असत्य पर खड़ा है, वे भी चाहते हैं कि स्कूलों में सत्य ही सिखाया जाय, असत्य नहीं। इस तरह अभी हमने सत्य केवल बच्चों और सन्यासियों के लिए ही रखा है। बाकी सबके लिए उसका अपवाद है। ये अपवाद इतने अधिक हैं कि संस्कृत व्याकरण में जैसे नियम से भी अधिक लम्बी सूची अपवादों की बनती है। राजनीति व्यापार, अदालत और शादी में भी असत्य चलता है। यह दलील भी दी जाती है कि उसे असत्य ही न कहा जाय। यानी ये योग असत्य की व्याख्या ही बदलना चाहते हैं।

मुख्य दोष असत्य

वास्तव में सत्य को मौलिक (ऐलिमेण्टरी) गुण मानना ही पर्याप्त नहीं। यदि नीतिशास्त्र में यह विचार रूढ़ हो जाय कि सत्य ही एक नैतिक तत्व है, बाकी सारे नैतिक तत्व (गुण) नहीं, सामान्य ही गुण या दोष हैं तो समाज में शीघ्र सुधार हो जाय और आध्यात्मिक साधना में मदद मिले। मनुष्य दण्ड से बचने के लिए सत्य को छिपाता है। उसका छिपाना भी कुशलता मानी जाती है। आज चोरी, शराब, व्यभिचार और खून की महापातकों में गणना होती है। शेष सभी उपपातक माने जाते हैं। लेकिन हमें लगता है कि हमारी साधना तब तक आगे नहीं बढ़ेगी, जब तक हम यह न समझें कि दुनिया में जितने सारे दोष हैं, सब गौण हैं और मुख्य दोष है 'असत्य'। असत्य ही एक नैतिक दोष है, बाकी सारे व्यावहारिक दोष-यह

वृत्ति समाज में स्थिर हो जाय तो निश्चय ही आज के झंझटों से हम मुक्त हो जायेंगे।

सभी पाप: मानसिक रोग

मान लीजिये,कोई आदमी बीमार पड़ता है। वह उस बीमारी को प्रकट करता है, क्योंकि प्रकट करने से रोग समझ में आ जाता है। फिर उसे कड़वी दवा पिलाते हैं या कभी-कभी आपरेशन भी करते हैं। उस दर्दी को हम सजा नहीं देते। जो करते हैं वह तो ट्रीटमेंट है, उपचार है, सेवा है। उससे उसे बीमारी से मुक्ति मिल जाती है। किन्तु किसी ने कोई गलत काम किया, जिसकी दुनिया में निन्दा होती हो तो वह उसे छिपाता है। इस तरह मानसिक बुराइयाँ छिपाते रहने से उनके निवारण का रास्ता नहीं मिलता, उसमें दूसरों की मदद भी नहीं मिल पाती। इसलिए हम चाहते हैं कि समाज में यह विचार पैठ जाय कि जितने पाप माने जाते हैं, वे सब शरीर के स्थूल रोगों के समान ही मानसिक रोग हैं।

घृणा नहीं, दया का पात्र

हम रोगी से घृणा नहीं करते, बल्कि उसकी ओर दया की दृष्टि से देखते हैं। अस्पताल में भी किसी को कोई गम्भीर रोग होने पर सभी उसकी ओर घृणा नहीं, बल्कि दया की दृष्टि से देखते हैं। इसी तरह इन मानसिक बुराइयों की ओर घृणा की दृष्टि के बजाय दया की दृष्टि से देखा जाय तो समाज जल्दी सुधरेगा। समाज में जब दोषों के प्रति घृणा नहीं होगी, तभी वे कम होंगे।

कुछ लोगों को लगता है कि 'समाज से दण्ड देने वाली व्यवस्था मिट जायगी तो मनुष्यों के दोष खुले आम फैलेंगे।' लेकिन यह विचार गलत है। आज दण्ड देकर सब दोषों को दबाने, छिपाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। उससे अन्तःशुद्धि नहीं होती, परिणामस्वरूप बुराइयाँ फैलती हैं।

एकमात्र साधना

इसलिए मेरी मान्यता है कि सब लोगों को, और खासकर आध्यात्मिक साधना करने वालों को तो सत्य को कभी छिपाना ही नहीं चाहिए। मेरी दृष्टि से तो सब सद्गुणों में सबसे श्रेष्ठ सद्गुण सत्य है। वैसा हो या न हो, पर सब दुर्गुणों में असत्य तो सबसे अधिक खराब दुर्गुण है, ऐसा मैं निश्चित मानता हूँ। यही सर्वोत्तम साधना होगी। यही प्राथमिक, बीच की और आखिरी साधना होगी। यही एकमात्र साधना होगी। उपनिषद् में ऋषि कहता है—

हिरण्मयेन पात्रेण
सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु
सत्यधर्माय दृष्टये ॥

अर्थात्—'सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से ढँका हुआ है। मैं सत्य-धर्मा हूँ। इसलिए हे प्रभो! यह असत्य का पर्दा दूर कर दो।' यही सर्वोत्तम या सर्वप्रथम साधना है।

आरम्भ कहाँ से हो?

इस साधना का आरम्भ घर और स्कूल से हो। आज तो होता यह है कि लड़के माता-पिता से अपने दोष छिपाते हैं और मित्रों के बीच अज्ञानवश प्रकट करते हैं। मित्र तो बचाने वाले नहीं, खेलने वाले होते हैं। फिर भी लड़के माता-पिता के पास अपने दोष इसीलिए प्रकट नहीं करते कि उन्होंने कभी उन दोषों के लिए उन्हें पीटा होगा, डराया-धमकाया होगा। यदि किसी से कोई

दोष हुआ तो 'कुछ भी नहीं हुआ।' ऐसा मानना चाहिए और उससे कहना चाहिए कि 'दुबारा ऐसा मत करो।' इस तरह उदार वृत्ति होनी चाहिए। इस प्रकार सत्य का आरम्भ घर और स्कूल से होना चाहिए। स्कूल में भी दण्ड या ताड़न नहीं होना चाहिए। न केवल घर और शिक्षा में, वरन् नीतिशास्त्र और अध्यात्म में भी सत्य होना चाहिए। नीतिशास्त्र और अध्यात्म दूसरे पचासों गुणों पर जोर दें या न दें, पर उन्हें यह अवश्य कहना चाहिए कि सत्य ही मुख्य वस्तु है।

सत्य और निर्भयता

सत्य की पूर्ति में दूसरे भी गुण आते हैं। सत्य रक्षा के लिए निर्भयता आवश्यक प्रतीत होती है। जो कुछ होना है, होने दो, कोई हमारी कितनी भी निन्दा करे, हम सत्य ही बोलेंगे, ऐसा निश्चय करने वालों की आज समाज में अत्यन्त आवश्यकता है। वास्तव में सत्य तो स्वाभाविक है। बच्चे को जब सिखाते हैं कि 'सत्य बोलो' तभी वह असत्य क्या चीज है, यह सीख जाता है। वह पूछता है कि 'सत्य बोलना यानी क्या?' तब उसे असत्य का परिचय कराना पड़ता है। इतना स्वयं स्पष्ट है सत्य, फिर भी आज समाज की हालत उलटी है।

अवश्य ही आज निर्भयता का महत्व बढ़ गया है। बापू ने भी उसे महत्व दिया था। गीता ने भी अभय को सब गुणों का सेनापति बताया है। किन्तु बारीकी से देखा जाय तो अभय सत्य की रक्षा के लिए एक युक्ति ही है। आज की समाज-रचना में अभय के बिना सत्य की रक्षा नहीं हो सकती। इसलिए आज अभय को सार्वभौम महत्व मिला है। फिर भी वास्तव में सत्य ही सर्वप्रथम गुण है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

ऋ०। मं० १०। सू० ७१। मं० ४॥

जो अविद्वान् हैं वे सुनते हुए नहीं सुनते, देखते हुए नहीं देखते, बोलते हुए नहीं बोलते अर्थात् अविद्वान् लोग इस विद्या वाणी के रहस्य को नहीं जान सकते किन्तु जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध का जानने वाला है उसके लिये विद्या—जैसे सुन्दर वस्त्र आभूषण धारण करती अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपना शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है—वैसे विद्या विद्वान् के लिये अपने स्वरूप का प्रकाश करती है, अविद्वानों के लिए नहीं।

× × × ×

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥ मनु० [४।२३३]॥

संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेद विद्या का दान अतिश्रेष्ठ है। इसलिए जितना बन सके उतना प्रयत्न तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि से किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान होता है।

विज्ञानमय कोश

● आचार्य श्रीराम शर्मा

अन्नमय, प्राणमय और मनोमय यह तीन कोश प्रकृति-परक हैं। इनका सम्बन्ध काय-कलेवर से है। यों यह तीनों ही चेतन हैं, पर इनकी चेतना शरीर के साथ गुंथी हुई है, पंचभूतों के समन्वय में ही इनका अस्तित्व है। स्थूल पंच तत्वों की रासायनिक एवं आणविक प्रक्रिया के आधार पर चेतना का जो अंश गतिशील रहता है, उसी की झांकी इन तीन कोशों में मिलती है। यह पदार्थों की मात्रा तथा स्तर के आधार पर प्रभावित होते हैं। आधार न मिलने से अन्न-मय कोश लड़खड़ा जाता है। उत्साहवर्द्धक अनुकूल परिस्थितियां न मिलने से प्राण शिथिल पड़ जाता है। मस्तिष्क संस्थान में नशा, मूर्छानस्य, क्लोरोफार्म आदि आघात एवं स्थानीय व्याधि खड़ी हो जाने से चिंतन प्रक्रिया ठप्प अथवा विकृति हो जाती है। उत्तम आहार से शरीर—प्रोत्साहन से प्राण एवं प्रशिक्षण से मन का विकास होता है। इससे स्पष्ट है कि ये तीनों ही शरीर सचेतन होते हुए भी तत्वगत प्रकृति पर निर्भर हैं। इन्द्रियां इन्हीं तीनों के साथ जुड़ी हुई हैं। वे पदार्थों एवं परिस्थितियों के अनुरूप सुख-दुख अनुभव करती हैं। सुविधा की दृष्टि से यदि इन्हें स्थूल संज्ञा दी जाय तो भी कोई हर्ज नहीं। मरने के बाद प्रेत शरीर प्राणमय कोश का बना हुआ होता है। इससे उच्च स्थिति की आत्मायें जिन्हें पितर कहा जाता है, मनोमय कोश के आधार पर बनते हैं। प्रेत निम्न कोटि के—उद्धत प्रकृति के होते और अशांत रहते हैं जबकि पितर दया, करुणा, विवेकयुक्त होते हैं और मैत्री उदारता एवं सहकारिता का परिचय देते हैं। इन तीनों ही शरीरों का परिचय यन्त्रों, इन्द्रियों के सहारे किसी न किसी प्रकार मिलता रहता है। पंच-तत्वों से तो प्रत्यक्ष शरीर बनता है, पर उनकी सूक्ष्म तन्मात्राएं प्राणमय और मनोमय शरीरों की संरचना करती हैं। इन्हीं कारणों से उपरोक्त तीनों शरीरों को प्रकृति-परक माना गया है और उनकी चेतना को स्थूल वर्ग भी गिना गया है।

सूक्ष्म वर्ग के दो शरीर हैं—विज्ञानमय और आनन्दमय। इनका सम्बन्ध सूक्ष्म जगत से और ब्रह्म-चेतना से है। विज्ञानमय कोश की संरचना सूक्ष्म जगत से आदान-प्रदान कर सकने के उपयुक्त है। उसमें भाव संवेद-नाओं की प्रधानता है। प्रेम तत्व की रसा-नुभूति सर्वोपरि है। इतनी सरसता जीवन के अन्य किसी पक्ष में—संसार की अन्य किसी विभूति में नहीं है। इसी से प्रेम को परमेश्वर कहा गया है। यह प्रेम तत्व अनेक रूपों में प्रकट होता रहता है। घनिष्टता, आत्मीयता एकता, ममता, वात्सल्य, करुणा, मैत्री, सेवा, उदारता आदि अनेकों रूप उसके हैं। व्यक्ति और परिस्थिति के अनुरूप उसके प्रवाह एवं स्वरूप कई प्रकार के देखने में आते हैं। पत्नी पुत्र, भगिनी, जननी के प्रति प्रेम तत्व की मात्रा समान होने पर भी उसके व्यवहार में

अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। सुखी के प्रति प्रसन्नता और दुःखीके प्रति करुणा व्यक्त करने में भी व्यवहार का अन्तर रहता है, मूलतः वह सहानुभूति की ही सम्वेदना होती है। प्रेम का स्थान हृदय माना गया है। सहृदयता, सज्जनता की विवेचना करते हुए उसे हृदय से सम्बन्धित कहा जाता है। यही हृदय एवं भाव संस्थान अध्यात्म शास्त्र में विज्ञानमय कोश कहा गया है।

व्यक्ति से व्यक्ति का सम्बन्ध बाह्य स्तर पर तो स्वार्थों के आदान-प्रदान पर टिका होता है किन्तु घनिष्ट आत्मीयता आन्तरिक सम्वेदनाओं के आधार पर जुड़ती है। वेश्या की घनिष्टता अर्थ प्रधान है इसका आरम्भ, विकास एवं अन्त इसी आधार पर होता है, किन्तु माता और संतान के बीच—पति और पत्नी के बीच जो सघनता है उसमें निस्वार्थ आत्मीयता का ही गहरा पुट रहता है। भाव संवेदना इसी का नाम है। लोक-व्यवहार में तथा स्वार्थ कौशल में जिस शिष्टाचार एवं चापलूसी का परिचय दिया जाता है वह तो व्यावहारिक चतुरता भर है। आत्मीयता इससे कहीं गहरी वस्तु है। उसका उद्गम हृदय होता है। इसलिये उसे प्रेम की संज्ञा दी जाती है और परमेश्वर के समतुल्य, पवित्र एवं उत्कृष्ट गिना जाता है।

यहाँ एक बात और ध्यान रखने की है कि 'हृदय' शब्द से तात्पर्य अध्यात्म शास्त्र में 'रक्त संचार' करने वाली थैली से नहीं, वरन् भाव संस्थान से है। चूँकि विज्ञानमय कोश का केन्द्र काया में हृदय स्थान के इर्द-गिर्द माना गया है इसलिए उसे 'हृदय' की संज्ञा दी गई है। 'प्रकाश' शब्द का भी अध्यात्म शास्त्र में 'ज्ञान' अर्थ होता है। रोशनी या चमक नहीं। अस्तु किसी को इन शब्दों के कारण भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए और न तो रक्त-संचार की थैली को भाव संस्थान 'हृदय' मानना चाहिए और न 'प्रकाश' को चमक। इन्हें अधिक से अधिक प्रतीक, प्रतिमा या प्रतिनिधि की संज्ञा दी जा सकती है।

विज्ञानमय कोश का स्थान हृदय चक्र माना गया है। इसका दूसरा नाम ब्रह्म-चक्र भी है। ब्राह्मी चेतना की ओर उसका प्रवाह रहने से ब्रह्म-चक्र नाम देना उपयुक्त ही है। भक्ति भावसे परमेश्वर को प्राप्त किया जाता है। जीव और ब्रह्म की एकता बढ़ाने में यह भक्ति ही प्रधान भूमिका बनाती है। भक्ति का प्रारम्भिक रूप श्रद्धा है। श्रद्धा को जड़ और भक्ति को तना कहा जा सकता है। श्रेष्ठता के प्रति असीम प्यार को श्रद्धा कहते हैं और करुणा, सेवा, उदारता जैसी कोमल भाव सम्वेदनाओं को भक्ति। यह भक्ति ईश्वर के प्रति भी हो सकती है और उत्कृष्ट आदर्शों के प्रति भी। जहाँ श्रद्धा तत्व के लिए उपयुक्त आधार हो वहाँ व्यक्तियों से अथवा पदार्थों से भी भक्ति हो सकती है। गुरुजनों, महामानवों के प्रति—तीर्थ देव-प्रतिमा आदि के माध्यम से भक्ति-भावना को विकसित करने का अभ्यास किया जा सकता है। ईश्वर भक्ति इसी प्रकार से आरम्भ होकर ब्रह्म परायणता तक विकसित होती चली जाती है। श्रद्धा की स्थापना एवं दृढ़ता में विवेक सहायक होता है। पहले यह परख की जाती है कि अमुक व्यक्ति या पदार्थ श्रद्धाके उपयुक्त है या नहीं। परख की कसौटी पर जब उत्कृष्टता का विश्वास हो जाता है तो श्रद्धा जमती और परिपक्व होती है। बिना विचारे—भावावेश में, किसी के बहकावे में अथवा देखा-देखी जो लगाव उत्पन्न होता है उसमें स्थायित्व नहीं

होता। प्रामाणिकता के अभाव में तो अन्ध श्रद्धा ही हो सकती है और उसमें चंचलता एवं अस्थिरता ही बनी रहती है। अन्ध श्रद्धा से व्यर्थ के अथवा अनर्थ मूलक काम तो हो सकते हैं किन्तु उच्चस्तरीय त्याग बलिदान कर सकने के लिए प्रामाणिक एवं विवेक सम्मत श्रद्धा ही काम देती है।

प्रेम यों कामुकता और मोहग्रस्तता के आकर्षणों में भी समझा जाता है, पर वस्तुतः उनमें उसकी छायामात्र होती है। विज्ञानमय कोश के साथ जिस उच्च-स्तरीय भाव संवेदना की दिव्य शक्ति जुड़ी रहती है, उसी का नाम पवित्र प्रेम है, उसी को परमेश्वर कहते हैं। रस का समुद्र वही है। श्रद्धा और भक्ति के रूपमें उसी का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। श्रद्धा और विश्वास की शक्ति का परिचय हम प्रत्यक्ष प्राप्त करते रहते हैं, उसकी सामर्थ्य सत्य के ही समतुल्य है। रस्सी का साँप—झाड़ी का भूत जैसे भयङ्कर परिणाम विकृत श्रद्धा के ही हैं। प्रतिमा में देवता का प्रकटीकरण श्रद्धा का ही चमत्कार है। आस्था एवं निष्ठा भी श्रद्धा का ही वह भाग है जो व्यक्तित्व का स्वरूप निर्धारित करता है। गीताकार की वह उक्ति पूर्णतया सत्य है जिसमें कि "यो यच्छ्रद्धः स एवस" में यह कहा है कि जिसकी जैसी श्रद्धा है वस्तुतः वह वैसा ही है। व्यक्तित्व हाड़-मांस पर, शिक्षा साधनों पर नहीं, अपने सम्बन्ध में—अपनी आकांक्षाओं एवं मान्यताओंके सम्बन्ध में बनाई गई आस्थाओं, निष्ठाओं एवं विश्वासों पर ही निर्भर रहता है। प्रकारान्तर से इस हृदय-चक्र को—विज्ञानमय कोश को ही समूचे व्यक्ति का बीजकरण एवं मूल आधार कह सकते हैं। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय तो उसके सज्जा साधन भर हैं।

परिष्कृत विज्ञान-चक्र में उत्पन्न चुम्बकत्व ही दैवी तत्वों को सूक्ष्म जगत् से आकर्षित करने और आत्म-सत्ता में भर लेने की प्रक्रियायें सम्पन्न करता है। भाव सम्वेदनाओं की शक्ति ही दैवी तत्वों को आकर्षित करती है। इसीसे भक्ति एवं प्रेम को आत्मिक प्रगति का आधार माना गया है। प्रतिमा भक्ति से गुरु भक्ति से अभ्यास करते-करते ब्रह्म-भक्ति का लक्ष्य प्राप्त करने की स्थिति बन जाती है। देव शक्तियों से लेकर ब्रह्म प्राप्ति की समस्त सफलताएँ विज्ञानमय कोश की भाव संवेदनाओं के चुम्बकत्व पर निर्भर रहती हैं। अनेक प्रकार की सिद्धियाँ एवं विभूतियाँ प्राप्त करने के लिए जो विविध-विधि अनुष्ठान, उपचार, तप, साधन किये जाते हैं, उनका उद्देश्य साधक की श्रद्धा को परिपक्व करना है। वह जितनी ही प्रगाढ़ होती जाती है—दिव्य-लोक के अनेकानेक अनुदान, वरदान उसी आधार पर खिंचते, बरसते चले आते हैं। हृदय-चक्र की विज्ञानमय कोश की प्रखरता ही मनुष्य को—महामानव सिद्ध-पुरुष ऋषि, देवात्मा एवं परमात्मा की स्थिति तक पहुँचाती है।

प्रत्यक्ष जगत की तरह ही, ठीक उसी के साथ सटा, घुला हुआ सूक्ष्म जगत है। स्थूल जगत की गतिविधियाँ, इस सूक्ष्म जगत की हलचलों पर निर्भर रहती हैं। बीज में पूरा वृक्ष—शुक्राणु में पूर्ण प्राणी छिपा रहता है, पर दीखता नहीं। ठीक इसी प्रकार स्थूल जगत का प्राण सूक्ष्म जगत है। आन्तरिक आकांक्षाओं के अनुरूप काय-कलेवर की गतिविधियाँ चलती हैं। ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म जगत में इस विश्व का भूत और भविष्य विद्यमान रहता है। स्थूल जगत में ही वर्तमान का बहुत ही उथला इन्द्रियगम्य भाग भर दिखाई देता है। उसका भी अधिकांश

भाग अप्रत्यक्ष ही रहता है। सूक्ष्म जगत एक विशाल समुद्र है। स्थूल जगत को तो उसकी कुछ सामयिक लहरें भर कह सकते हैं। सामान्यतया हमारी गतिविधियाँ तथा जानकारियाँ स्थूल जगत तक ही सीमित रहती हैं पर यदि विज्ञानमय कोश समर्थ हो तो सूक्ष्म जगत की समस्त हलचलों को देख, सकते हैं तथा भूत एवं भविष्य की परिस्थितियों से अवगत रह सकते हैं। दूरवर्ती एवं अदृश्य को देख सकना भी हमारी दिव्य-दृष्टि के लिए सम्भव हो जाता है। इसी विशिष्ट क्षमता को अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। सिद्ध-पुरुषों में उसी स्तर की अनेकों अलौकिक विशेषताएँ देखी जाती हैं। वे न केवल सूक्ष्म जगत की परिस्थितियों तथा सम्भावनाओं को जान ही लेते हैं, वरन् उन्हें प्रभावित करने में भी समर्थ होते हैं। शाप से प्रतिकूल और वरदान से अनुकूल परिस्थितियां सामने आती हैं। यह सिद्ध-पुरुषों का अपना पुरुषार्थ है जो सूक्ष्म जगत् से अपने प्रभाव पराक्रम के द्वारा उनने उपार्जित किया होता है।

अपने इस स्थूल जगत् के आदान-प्रदान कितने सुखद होते हैं, उस सरसता के प्रति आकर्षित एवं मुग्ध होने के कारण ही जीवात्मा इस मल-मूत्र की गठरी में निर्वाह करने के लिए सहमत हो सका है। मरते समय कोई भी इसे स्वेच्छा से नहीं त्यागना चाहता और मौत से डरता है। यह जड़ जगत से सम्बन्धित पदार्थों और प्राणियों की सुखद प्रतिक्रिया ही है जिसमें रस लेने के लिए आत्मा ने जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करते रहना स्वीकार किया है। सूक्ष्म जगत् की उपलब्धियाँ और अनुभूतियाँ इससे असंख्यों गुनी बढ़ी-चढ़ी हैं। उससे जिनका सम्बन्ध है, जो उसे देखते, अनुभव करते हैं, वे स्वर्गलोक में रहने वाले देवताओं की तरह सुखी, सन्तुष्ट रहते हैं। उनके पास इतनी विभूतियाँ होती हैं कि अपनी आवश्यकता से अधिक देखकर उन्हें वे दूसरे जरूरतमन्दों पर बाँटते बखेरते – महानतम दानवीरों की तरह स्वयं सुखी रहते हैं और दूसरों को सुखी बनाते हैं।

विज्ञानमय कोश का केन्द्र – हृदय-चक्र है। इस शक्ति भँवर में - समर्थ चक्रवात में निवास करने वाली आत्म-चेतना के लिए यह सरल पड़ता है कि वह ब्रह्म-चेतना के साथ अपनी विशेष स्थिति के कारण घनिष्टता स्थापित कर लें। इस सफलता के सहारे मिलने वाली उपलब्धियाँ इतनी गरिमामयी हैं कि उन्हें पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता है।

ध्यान करें शरीर सूक्ष्म तत्व से बना तेज पुञ्ज हृदय-क्षेत्र में तेजोवलय जैसी घनी भँवर, उससे उठती तरगें शरीर में तरंगित होती हैं और चारों ओर प्रकाश के समूह में-अन्तरिक्ष में फैल जाती हैं।

जब 'मैं' था तब 'तू' नहीं, जब 'तू' है 'मैं' नायँ।
प्रेम-गली अति सांकरी; जामें द्वै न समायँ।।

कर्म-प्रकरण (पूर्व प्रकाशित से आगे)

कर्माशय

● श्रीस्वामी हरिहरानन्द आरण्य

[१०] कर्मशक्ति समस्त करणों का स्वाभाविक धर्म है। पूर्व कर्म से जो संस्कार होता है, उसके द्वारा बाद में कृत कर्म कुछ परिवर्तित भाव से होता है; यह संस्कारयुक्त कर्म शक्ति ही कर्माशय है। वह त्रिविध है—जातिहेतु, आयुहेतु, तथा भोगहेतु। जैसे एक मानव-शरीर, उसके समस्त यन्त्रों के कर्मों से शरीर-धारण होता है। किसी एक जन्म में पूर्वानुरूप अथवा नया कुछ कर्म करने पर उनसे जो कर्म-संस्कार होता है उससे बाद में तदनुरूप कर्म होता रहता है। अतः कर्मशक्ति मात्र कर्माशय नहीं है, वह स्वाभाविक ही है। प्रत्येक जन्म में आचरित नये संस्कार के द्वारा अभिसंस्कृत कर्मशक्ति ही कर्माशय है। इसके दृष्टान्त ये हैं—जल कर्मशक्ति है; उसे कटोरी, लोटा, कलस आदि में रखने से जो तदाकार होता है उसी प्रकार घटाकार, कलसाकार जल ही कर्माशय है और लोटा, कलस आदि जिनसे जल आकारित होता है, वे वासना है।

(११) अनादिकाल से जन्मकाल तक प्रचित वासनाओं के बीच, कई एक वासनाओं के सहारे जो त्रिविपाक कर्म-संस्कार-समूह किसी एक जन्म का कारण होते हैं वे उस जन्म का कर्माशय हैं। कर्माशय एकभविक है अर्थात् प्रधानतः एक जन्म में-या विशेषतः अव्यवहित पूर्व जन्म में-संचित होता है। किसी एक जन्म में आचरित कर्म के संस्कार समूह पूर्व-पूर्व-जन्मीय संस्कारापेक्षया स्फुटता के कारण प्रधान रूपसे प्रायेण ही तत्परवर्ती जन्म का बीजस्वरूप होते हैं; यह बीज ही कर्माशय है। कर्माशय एकभविक है—यह प्रधान नियम है। वस्तुतः पूर्व संचित संस्कारों का कुछ अंश कर्माशय के अन्तर्भूत होता है। जिस प्रकार पूर्व-पूर्व जन्मीय संस्कार कर्माशय होता है, उसी प्रकार जो जन्म कर्माशय का प्रधान जनक है, उस जन्म के भी कुछ संस्कार कर्माशय में प्रविष्ट नहीं होते; ये संस्कार संचित रह जाते हैं।

जो लोग बचपन में मृत होते हैं उनका पूर्ण-वयसोचित कर्मों का संस्कार कर्माशयरूप में रह जाता है। वह परजन्म का बीजभूत कर्माशय होता है। इससे भी एकभविकत्व नियम का अपवाद होता है।

(१२) कर्माशय पुण्य, अपुण्य तथा मिश्र-जातीय बहुसंख्यक संस्कारों की समष्टि है। उन बहुसंख्यक कर्मों में कुछ प्रधान होते हैं और कई अप्रधान या सहकारी होते हैं। जो बलवान् कर्माशय पहले और प्रकृष्टरूप से फलवान् होते हैं, वे प्रधान हैं। पुनः पुनः कृत कर्मों से या तीव्ररूप से अनुभूत भावों से प्रधान कर्माशय होता है, अन्यथा अप्रधान कर्माशय होता है। धर्माधर्म कर्म कहने से साधारणतया कर्माशय समझना चाहिए।

(१३) समग्र कर्माशय मृत्यु के समय प्रादुर्भूत होता। मरण के ठीक अव्यवहित पहले उसी जन्म में आचरित कर्मों के संस्कार-समूह चित्त में मानो युगपत् उदित होते हैं। तब प्रधान और अप्रधान संस्कार-समूह यथायोग्य भाव में सज्जित होकर उठते हैं और पूर्व-पूर्व जन्मों का कोई-कोई अनुरूप संस्कार आकर इनका सहायक होता है एवं इस जन्म का कोई-कोई विसदृश संस्कार अभिभूत होकर रहता है। बहु संस्कार युगपत् एक ही काल में उदित होने के कारण वे मानो पिण्डीभूत हो जाते हैं। वह पिण्डीभूत संस्कार समष्टि या कर्माशय मरण के अव्यवहित पहले उदित होकर मरण-साधन-पूर्वक अनुरूप शरीर उत्पन्न करता है, यह एक जन्म है। इस प्रकार कर्माशय जन्म का कारण होता है।

(१४) मरणकाल में ज्ञानवृत्ति बाह्य-विषयों से अपसृत होने के कारण केवल मात्र अन्तर्विषयालम्बिनी होकर रहती है। ज्ञान-शक्ति विषयान्तर का परित्याग करके केवल-मात्र आन्तर-विषयालम्बिनी होने पर उस विषय का अत्यन्त स्फुट ज्ञान होता है। यही कारण है कि मरणकाल में अन्तर्विषय-समूहों का स्फुट ज्ञान होता है। अन्तर्विषय के ज्ञान का अर्थ है—संस्काराहित विषयों का अनुभव या पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण। अर्थात् जीवन काल में ज्ञान-शक्ति देहाभिमान के द्वारा नियमित रहती है, किन्तु मरणके समय देहाभिमान के द्वारा असंकीर्ण होने के कारण ज्ञान-शक्ति अतीव विशद हो जाती है। उस विशद ज्ञान-शक्ति के उस समय बाह्य-विषय के साथ सम्पर्क-शून्य होने के कारण अन्तर्विषय समूह स्फुट रूप में अनुभूत होते हैं। मरण-काल में आजीवन की घटनाओं का स्मरण होने का यही कारण है।

मरणकाल में जो होता है, उस विषय में योग-भाष्यकार ने कहा है—

तस्मात् जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयः × × प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मिलित्वा मरणं प्रसाध्य संमूर्च्छित एकमेव जन्म करोति।
(२/१३)

इस प्राचीन आर्ष वाक्य के घटना-प्रमाण के रूप में De Quincey ने उनके Confessions of an English Opium Eater नामक ग्रन्थ में कहा है कि उनकी एक आत्मीया पानी में डूबने के बाद उत्तोलित हुई। पानी के बीच मृतवत् होने पर उनके आजीवन के कार्य स्वल्प काल में ही मानो युगपत् स्मृत हुए थे। ("She saw in a moment her whole life, clothed in Is forgotten incidents, × × not successively but simultaneously")। Night Side of Nature पुस्तक में Seeress of Prevorst नामक एक अत्यन्त उच्चकोटि के क्लेयारभयाण्ट, जो कि लोगों के मृत्युकाल में भी उन लोगों की नैतिक घटना ठीक-ठीक देख पाते थे, के दर्शनके सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा गया है। यथा—

"And this renders comprehensible to us what is said by the Seeress of Prevorst, and other somnambules of the highest order, namely, that the instant the soul is freed from the body, it sees its whole earthly career in a single sign... and pronounces its own sentence" (Chap. X.).

कर्मतत्त्व में अन्न ईसाई दर्शकों की उक्ति के द्वारा उपर्युक्त आर्ष वाक्यका ऐसा सम्यक् पोषण पाठकों के लिए द्रष्टव्य है। सभी को याद रखना आवश्यक है कि वे जो भी कर्म कर रहे हैं वे मरणकाल में यथायथ उदित होंगे एवं यदि पाशव कर्मों का बाहुल्य उनके

कर्माशयों में रहेगा, तो पशुप्रकृति का आपूरण होकर वे बाद में पशु होंगे। यदि दैव-प्रकृति के उपयोगी कर्मोंका बाहुल्य रहेगा तो उनको दैव-शरीर एवं नारक कर्मों से नारक शरीर मिलेगा। अतः गीता के ८/६ के 'य यं वापि' उपदेश का स्मरण करके "सदा तद्भाव-भावितः" रहने की चेष्टा करना उचित है, जिससे मृत्यु काल में कोई परमभाव प्रकृष्ट रूप से उदित हो। श्रुति में भी है—

तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य।

(बृहदा० उप० ४/४/६)

(४) वासना

(१५) जिस प्रकार चेष्टारूप कर्म करने पर उसका संस्कार होता है, उसी प्रकार सुख-दुःख का अनुभव करने पर उसका भी संस्कार होता है; अथवा देह धारण करने पर उस देह की प्रकृति एवं उस देह की आयु की प्रकृतिके जो संस्कार होते हैं वे ही वासना हैं।

(१६) सुख-दुःख का स्मरण होता है। जिस संस्कार-विशेष के द्वारा आकारित बोध सुखाकार या दुःखाकार होता है वह उनकी वासना है। शरीर क्रिया-समूहों के द्वारा (अर्थात् प्रत्येक शारीर यन्त्रों के क्रिया-समूहों के द्वारा) भी यन्त्र समूहों की आकृति-प्रकृति का जो अस्फुट बोध होता है, उससे भी संस्कार होता है और शरीर-धारण का जो काल होता है, तद्व्यापी बोधका भी संस्कार होता है। यह त्रिविध संस्कार ही वासना है।

(१७) वासना से केवल उससे आकारित स्मृति उत्पन्न होती है। उस स्मृति का आश्रय करके कर्मानुष्ठान और कर्मफल की अभिव्यक्ति होती है। जैसे सुखभोग से सुख-वासना होती है पर उससे कोई नया सुख-द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उनसे जो नया बोध होता है वह पूर्वानुभूत सुख के अनुरूप होता है। उस सुख स्मृति से राग-पूर्वक कर्मानुष्ठान होता है और उस सुखमय चित्त-प्रकृति का अवलम्बन करके नया सुखरूप कर्मफल भी अभिव्यक्त होता है। अतः वासना केवल स्मृति फलक है। वह जाति, आयु तथा भोग, इन तीन फलों से युक्त नहीं है।

(१८) वासना त्रिविध है—भोग-वासना, जाति-वासना तथा आयु-वासना। भोग-वासना द्विविध है—सुख-वासना और दुःख-वासना। सुख और दुःख शून्य एक प्रकार की वेदना या अनुभव है। वह इष्ट होने पर सुख के अन्तर्गत है तथा अनिष्ट होने पर दुख के अन्तर्गत है। जैसे स्वास्थ्य और मोह। साधारण स्वस्थ अवस्था में स्फुट सुख-दुःख-बोध नहीं होता, यद्यपि वह इष्ट है। मोह में सुख-दुःखबोध न होने पर भी वह अनिष्ट है। शरीर के सभी विशेषों के या अण अंशों के समावेश का जो साँचारूप है, वही जाति-वासना है। प्रत्येक जाति में जिस देह की जितने दिनों तक स्थिति हुई है उसका साँचा रूप छाप आयु की वासना है। सुख-दुःखरूप भोग-वासना यह है—सुख-दुःख हम लोगों के शरीर और मन के विशेष प्रकार की क्रिया से होते हैं। यह क्रिया जहाँ जाकर मनोगत जिस साँचारूप संस्कार में निविष्ट होकर सुख या दुःखरूप वेदना में परिणत होती है या अनुभव में परिणत होती है वही सुख-दुःख वासना है। (छाप दो प्रकार का है—साँचारूप छाप एवं साधारण छाप; वासना साँचारूप छाप है, यह जानना चाहिए)।

(१९) जातिवासना स्थूलतः पाँच प्रकार की है—दैव, नारक, मानव, तिर्यक्योनि और औद्भिद। इन सब देहों का धारण होने

पर उन देहों की समस्त करण-प्रकृतिगत सब विशेषों का जो अनुभव होता है, उसका संस्कार ही जातिवासना है।

(२०) आयुवासना कल्पायु से क्षणमात्र शरीर-धारण की अनुभूति से जात है और यह असंख्य प्रकार की है। वासना-समूह अनादि है, क्योंकि मन अनादि है; वे इसी कारण से असंख्य हैं। अतः सर्व प्रकार के जन्मों की (अतः आयु एवं भोग की भी) वासनायें सदा ही सभी व्यक्तियों में विद्यमान हैं।

(२१) वासना कर्माशय के द्वारा उद्बुद्ध होती है। उस उद्बुद्ध वासना का आश्रय करके कर्माशय फलवान् होता है। वासना मानो सांचे की तरह है और कर्माशय द्रवधातु के समान है। वासना मानो खात है और कर्माशय मानो उसमें प्रवहमाण जल है।

मान लो, कोई मनुष्य कुकर्मवश पशु हुआ, पशु-शरीर के सभी कर्म मानव-शरीरके द्वारा नहीं किये जा सकते हैं, लेकिन प्रधान पाशविक कर्म कर सकता है। उस प्रकार के कर्मों के संस्कार से आत्मगत पशु-वासना उद्बुद्ध होती है। उस पाशव वासना का आश्रय करके पशु-जन्म होता है अन्यथा मानव-शरीर धारण के संस्कार से कदापि पशु-शरीर होना संभव नहीं है। पशु वासना रहने के कारण ही वह संभव होता है।

(५) कर्मफल

(२२) किसी कर्म का संस्कार यदि अलक्षित अवस्था से लक्षित अवस्था में आरब्ध होता है तो शरीर का जो वैशिष्ट्य होता है एवं शरीरादि में जो संघटित होता है उनको उस कर्म का फल कहा जाता है। उनमें स्मृतिफल वासना के द्वारा स्मरण बोध तदनुरूप में आकारित होता है और त्रिविपाक कर्म का संस्कार आरूढ़ अवस्था में आने पर उस कर्म की जैसी प्रकृति है वह तदनुसार जाति या देह, आयु और भोग उत्पादन करता है। स्मृति हेतु और त्रिविपाक, इन दो प्रकार के संस्कारों में जो दृष्ट-जन्म में ही आरब्ध होता है, वह दृष्ट-जन्म-वेदनीय है और जो भविष्य जन्म में आरूढ़ होगा, वह अदृष्ट-जन्म-वेदनीय है। चर्म को अत्यधिक रगड़ने पर कड़ा होता है या घर्षणकर्म के द्वारा चर्म की प्रकृति परिवर्तित होती है—इस प्रकार का कर्मफल दृष्टजन्म-वेदनीय का उदाहरण हो सकता है और वर्तमान आरब्ध कर्मफल के द्वारा बाधा प्राप्त होने के कारण कर्म का जो फल इस जन्म में आरूढ़ नहीं हो सकता है, वह अदृष्ट-जन्म वेदनीय है।

(२३) इन्द्रियशक्ति से इन्द्रिय उद्भूत होती है, बोधसे बोधान्तर होता है और सर्व करणगत प्राणशक्ति से देहधारण होता है। इन होने वाले इन्द्रिय, बोध और शरीरके विभिन्न आकार-प्रकार मात्र कर्म के द्वारा प्राप्त होते हैं। वे मूलतः सृष्टि नहीं होते। जिस प्रकार एक मेघखण्ड वायु के द्वारा मूलतः सृष्ट नहीं होता, पर उसका आकार वायुके द्वारा नियत परिवर्तित होता है, उसी प्रकार कर्मरूप वायु के द्वारा भी होने वाले देहेन्द्रियादि का परिवर्तन मात्र होता है।

(२४) कर्मका फल या संस्कार की व्यक्तताजनित घटना तीन प्रकार की है—जाति, आयु तथा भोग। संस्कारसे करणों का जो विशेष-विशेष प्रकार का विकास होता है एवं साथ ही विकास के कारण आकृति और प्रकृति में भेद होकर जो देह-लाभ होता है वह देह ही जातिफल है। संस्कार के बल के अनुसार या अन्य (बाह्य) कारणसे जितने काल तक जाति और भोग आरूढ़ रहता है, उसका नाम आयु है और संस्कार के प्रकृति-विशेष के अनुसार जो सुख, दुःख या मोहरूप बोध होता है, उसका नाम है।

आत्म-समर्पण ही भक्ति है

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

स्थान—आश्रम की कुटिया।

समय—प्रभात।

मधुदेव अपनी कुटिया में अपने आसन पर आसीन हैं। वे अब उस बरसाती नदी की भाँति चंचल एवं अशान्त नहीं हैं, जिसे हर समय पत्थरों से सिर टकराना पड़ता है, वे अब अति शांत हैं। उनके विवेक चक्षु सद्गुरु की कृपा से अब खुल चुके हैं। वे यह जान गये हैं कि साधक के लिए तीन गुणों—सत्व, रज, तम से ऊपर उठकर प्रत्येक अवस्था में सम रहते हुए, कर्त्तापन के अभिमान से रहित होना नितान्त आवश्यक है। साधक यदि अपने जीवन का सही लक्ष्य प्राप्त करना चाहता है अर्थात् उस देश में पहुंचना चाहता है, जहाँ शुद्ध चेतन आत्मा का निवास है तो उसे अपने कर्त्तापन के अभिमान को दूर करना होगा और उसके लिए उसे सन्त सद्गुरु की चरण-शरण में जाना ही होगा।

सद्गुरु ज्ञान रूप होते हैं—वे साधक के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए उसे ज्ञान का अंजन देते हैं, जिससे साधक के विवेक चक्षु खुल जाते हैं—

अज्ञान तिमिरान्धस्य,
ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षु रुन्मीलितं येन,
तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

अर्थात् अज्ञान के अन्धकार से अंधे को ज्ञानरूपी अंजन की शलाका (सलाई) लगा, जो आंखों को खोल देते हैं। उन श्री सद्गुरु देवजी को मैं नमस्कार करता हूँ।

जो गुरुदेव बुद्धिरूपी आंखों में ज्ञानरूपी सलाई लगाकर अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करते हैं और दृष्टि को पाप के आवरण से बचाते हैं। उनके चरणों को हृदयमें धारण कर मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।

ज्ञान क्या है? ज्ञान यही है "एकमेवा-द्वितीय ब्रह्म" अर्थात् एक ब्रह्म ही है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में सब क्रीड़ा किया करता है। वह कण-कण में व्याप्त है—हममें, तुममें अणु-अणु में वह ब्रह्म ही है। उसकी सत्ता से भिन्न किसी अस्तित्व है ही नहीं।

योगाभ्यास में साधक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, उसमें सिद्ध शक्तियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। यदि साधक इनमें रुचि लेगा तो उसमें अहंकार पैदा होगा और वह अहंकार साधक को न केवल आगे ही बढ़ने से रोक देगा, अपितु उसे गिरावट के गहरे गर्त में धकेल देगा। इस अन्धकाररूपी शत्रु से बचने का केवल एक ही उपाय है कि साधक अपने तन-मनरूपी पुष्पोंको अपने परम आराध्यदेव सद्गुरु के चरणों में पूर्णतया समर्पित करदें। न तन उसका रहे न मन। मन में कोई भी विचार उसका अपना न हो, मन उसका कोरा कागज हो। उस पर जो कुछ भी सद्-गुरुदेव अपनी कृपा से लिख दें, वही उसके विचार हों, उसका अपना कोई अलग अस्तित्व न हो। अपने अस्तित्व को अलग मानना ही

अहंकार है, क्योंकि अपने अस्तित्व को अलग मानने के विचार से ही साधक में कर्त्तापन की बू आ जाती है। परन्तु सद्गुरु-कृपा से जब उसको यह विवेक हो जाता है कि मेरा-अपना कोई अस्तित्व नहीं है—मैं जो कुछ भी हूँ, सद्गुरु-कृपा से हूँ और जो कर भी रहा हूँ सद्गुरु-कृपा से कर रहा हूँ। तो फिर वह अपने को 'कर्त्ता' न मानकर अपने परम आराध्यदेव सद्गुरु को ही कर्त्ता मानता है। परिणामस्वरूप साधक भक्ति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता ही रहता है। उसकी भक्तिरूपी नाव को डूबने का भय नहीं रहता। किसी शायर का कथन है—

शेर

डूबने का खौफ हमको हो,
तो फिर क्यों हो भला।
(जब) हम तेरे, किश्ती तेरी,
साहिल तेरा, दरिया तेरा ॥

इसलिए साधक के लिए यह परम आवश्यक है कि अपने अस्तित्व को पूर्णतया मिटा दे। स्वयं को मिटाने का नाम ही साधना है। संसार में जीव अपने को बनानेके प्रयत्नों में दिन-रात लगा रहता है। धन-सम्पत्ति, मान-बड़ाई आदि में वह सबसे आगे निकल जाना चाहता है और इसके लिए वह सभी तरह के दांव-पेच खेलता है। परिणाम यह होता है कि ईर्ष्या, तृष्णा, द्वेष आदि में जीव बुरी तरह फँस जाता और अपने आपको उन्नति के शिखर पर ले जाने की अपेक्षा सदा के लिए चौरासी की गहरी खाई में गिर पड़ता है, परन्तु जो साधक भक्ति-पथ पर पाँव बढ़ाते हैं और जिन्हें सद्गुरु की चरण-शरण प्राप्त हो जाती है, उन्हें यह विवेक हो जाता है कि भक्ति-पथ पर अपने आपको मिटाना पड़ता है। जिन्होंने अपने आपको अपने अस्तित्व को मिटाना, उन्होंने ही सब कुछ पाया।

शेर

मिटा दे अपनी हस्ती को,
अगर कुछ मर्तबा चाहे।
वे दाना खाक में मिलकर,
गुले गुलजार होता है ॥

अतएव भक्ति-मार्ग में अपने अस्तित्व को मिटाना बहुत आवश्यक है। साधक जो कुछ भी करे, उसका कर्त्ता अपने आपको न मान कर अपने सद्गुरु को ही माने। जब तक वह ऐसा नहीं करेगा, तब तक उसके द्वारा निर्मित साधनारूपी अट्टालिका (इमारत) के गिरने का भय बना ही रहेगा। अहङ्कार ऐसा बलशाली शत्रु है जो अन्दर ही अन्दर उस अट्टालिका की नींव को खोखला कर देता है। भगवान श्रीकृष्ण अहङ्कार के उच्छेदन के लिए कितना जोर दे रहे हैं—

चेतसा सर्वकर्माणि,
मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य,
मच्चित्तः सततं भव ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि,
मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न,
श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥

(गीता १८/५७-५८)

हे अर्जुन! तू सब कर्मों को मन से मेरे अर्पित करके मुझमें ही एकनिष्ठ हो जा। समत्व बुद्धि रूप निष्काम कर्मयोग को धारण करके अपना चित्त निरन्तर मुझ में ही लीन कर दे।

जब तेरी अपनी कोई भी कल्पना न रहेगी। तू अपना सम्पूर्ण मन मुझे ही सौंप देगा, तब तुझ पर मेरी कृपा उतरेगी, जिससे तू जन्म-मरण के सङ्कट से अनायास ही तर जायेगा और यदि तू किसी भी अहं भावना का शिकार होकर मेरे वचनों को न सुनेगा तो विमल परमार्थ-पथ से भ्रष्ट हो जायेगा।

अतएव साधक को चाहिए कि वह अपने अस्तित्व को पूर्णतया सद्गुरु के चरण-कमलों में समाहित कर दे, क्योंकि सद्गुरु असीम हैं और साधक अल्प। अल्पता में न सुख है और न शान्ति। अल्पता ही समस्त दुःखों का कारण है' सारी अशान्ति का मूल है। इससे छुटकारा पाने का केवल एक ही उपाय है— असीम, अनन्त शाश्वत के साथ योग। बूंद जब तक सागर के समर्पित नहीं होती, अपना अस्तित्व नहीं मिटाती, तब तक परेशान रहती है, परन्तु जैसे ही वह अपने अनन्त में समाई, वह सागर रूप हो गई और उसके समस्त दुःखों का अन्त हो गया।

राम-नाम की महिमा

श्री खूबीराम लबानियां

राम-नाम सत्य-चिदानन्द-प्रेम का प्रतीक,
राम-नाम दर्शनों का गोपनीय सार है।
राम-नाम वेद में 'प्रणव' सा है ओत-प्रोत,
राम-नाम ही तो कर्म-धर्म का निखार है।
राम-नाम जप-तप-योग-याग का निचोड़,
राम-नाम ब्रह्म का ही दूसरा प्रकार है।
शेष सब नामों में रमा है एक राम-नाम,
प्यारे राम-नाम को प्रणाम बार-बार है॥

राम-नाम ने उबारा राम के विरोधियों को,
कालनेमि आदि का प्रसंग प्रामाणिक है।
राम-नाम बुद्धि के विकारों की दवा अमोघ,
राम-नाम अघ-ओघ-पूग को वधिक है।
राम-नाम के गुणों का पा सका न कोई पार,
राम-नाम का प्रताप राम से अधिक है।
राम-नाम से करे जो बैर या विरोध कोई,
उस नीच नर को हजार बार धिक है॥

राम-नाम की कृपासे होनी-अनहोनी होती,
होता अभिनन्दनीय भक्त भगवान सा।
राम-नाम के प्रभाव, निद्य-नारकीय जीव,
विश्व-वंदनीयों को भी प्यारा होता प्राण सा।
राम-नाम के सहारे जो न हो सफल-सिद्ध,
जल, थल, नभ में है ऐसा काम कौनसा।
राम-नाम के विमुख, देवराज सा भी देव,
द्वार-द्वार दुतकार पाता दुष्ट श्वान सा॥

राम-नाम सत्य, शिव, सुन्दर सुहावन है,
राम-नाम नर, पशु, पामरों का त्राण है।
राम-नाम दुष्ट, दैत्य, दनुज दुराशयों के,
दमन को तीखी महाकाल की कृपाण है।
राम-नाम रोगियों के रोग का महोपचार,
राम-नाम ज्ञानियों के ज्ञानका विधान है।
राम-नाम मनके मनोरथों का सिद्धि-धाम,
राम-नाम प्राणियों के प्राणका भी प्राण है॥

ध्यान-योग से कर्मफल विपाक परिवर्तन

● श्री सुभाषचन्द्र वर्मा

हमारे सद्गुरुदेव जी ने अपने अनेक प्रवचनों में बताया है कि ध्यानयोग में निपुण होने पर अपने क्लिष्ट कर्म विपाक में भी परिवर्तन किया जा सकता है तथा भयंकर कर्मफलों को भी सूक्ष्म में भुगत कर उन्हें निपटाया जा सकता है।

अपने आश्रम में तो अनेक बार यह देखा गया है कि साधकों के योग-ध्यान में निपुण न होने पर भी अपने सद्गुरुदेव जी तथा आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने उन्हें योग-ध्यान की शक्ति देकर ध्यान अवस्था में ही उनके क्लिष्ट कर्मों का भुगतान करा दिया है।

इस तथ्य को उजागर करने वाली एक बहुत ही आश्चर्यजनक घटना मेरे परिवार में घट चुकी है, जिसका निवारण निम्न प्रकार है—

मेरी छोटी लड़की सीमा जब पैदा हुई, उसी समय एक ज्योतिषी ने उसकी जन्म-कुण्डली बनाकर हमें सावधान किया कि अल्पायु में ही उस लड़की के लिए जीवन का भय है। अतः इस दृष्टिकोण से मैं थोड़ा चिन्तित रहता था।

सन् १९७९ में आदरणीय भाई मोहनलाल जी तथा श्री स्वामीजी (श्री ओमप्रकाश पालीवालजी) ने राजाजी पुरम लखनऊ में योगाश्रम की स्थापना की। मैंने भी उसी समय अपने पूरे परिवार के साथ श्री सद्गुरु देवजी से दीक्षा ग्रहण की। आश्रम में प्रति-दिन संध्या समय कीर्तन हुआ करता था। हम सभी लोग कीर्तन में प्रतिदिन उपस्थित रहते थे। कीर्तन की प्रगाढ़ावस्था में अनेक लोग ध्यानस्थ हो जाया करते थे। मेरी लड़की सीमा का ध्यान भी इसी प्रकार लग जाया करता था।

एक दिन कीर्तन के पश्चात् हम लोग अपने घर आये और भोजनोपरान्त सोने की तैयारी करने लगे। इसी समय सीमा पुनः ध्यान में बैठ गई और लगभग आधे घण्टे तक ध्यानस्थ रही। जब वह ध्यान से उठी तो मैंने उससे पूछा कि तुम्हें क्या अनुभव हुआ ? उसने बताया कि ध्यान की अवस्थामें मुझे अपने सद्गुरुदेवजी आनन्दकन्द श्रीप्रभुजी तथा भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन हुए तथा मैं उनके साथ खेल रही थी। खेलने के बाद मैंने आनन्दकन्द श्री प्रभुजी से पूछा कि मेरी मृत्यु कैसे होगी ? मेरे इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने बताया कि तेरी मृत्यु तो साँप के काटने से होगी। यह सुनते ही मेरा चेहरा तमतमा उठा और कहा—हे आनन्दकन्द प्रभो ! कृपा कर आप मुझे एक वरदान दीजिये। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने पूछा—क्या आप चाहती हो ? मैंने तुरन्त कहा—मैं यह चाहती हूँ कि साँप के काटने से मैं न मरूँ। यह सुनते ही उन आनन्दकन्द जी ने मुझे आशीर्वाद दिया। तत्पश्चात् मेरा ध्यान खुल गया।

इस ध्यान का विवरण सुनने के बाद हम लोग इसे एक सामान्य ध्यान समझकर करीब-करीब भूल गये। तीन महीने के पश्चात् एक दिन संध्या के समय सीमा अन्य बच्चों के साथ समीप के एक पार्क में खेल रही थी। बीच में ही वह खेल छोड़कर दौड़ती हुई घर आ गई और अपनी मम्मी से बोली—मम्मी! मेरे कान में आवाज आ रही है कि सीमा! तुम ध्यान में बैठो, तुम्हारा समय नजदीक आ गया है। यह कह कर उसने तुरन्त हाथ-मुँह धोये और तुरन्त आश्रम की ओर भागी। उस समय आश्रम में श्री स्वामीजी (श्री ओमप्रकाश पालीवालजी) ध्यान में बैठने की तैयारी कर रहे थे। सीमा को देखते ही स्वामीजी के मुख से निकला— सीमा! तुम भी यहीं ध्यान में बैठो। तत्पश्चात् सीमा वहीं ध्यान में बैठ गई।

धीरे-धीरे कीर्तन का समय हुआ और स्वामीजी ने बड़ी प्रगाढ़ता से कीर्तन कराया, लगभग ९ बजे रात्रि में कीर्तन समाप्त हुआ, किन्तु सीमा का ध्यान न खुला। लगभग दो घण्टे बाद जब इसका ध्यान खुला तो उसने बहुत ही अद्भुत विवरण सुनाया, जो निम्न प्रकार है—

जब मैं ध्यान में बैठी तो तुरन्त ही मेरा शरीर हवा में उड़ने लगा। उड़ते हुए मैं बहुत ऊपर आकाश में पहुँच गई। अकस्मात मुझे वहाँ आनन्दकन्द श्री प्रभुजी दिखाई पड़े। प्रभुजी ने बड़े ही स्नेह से मुझे अपनी गोद में उठा लिया। तत्पश्चात् मैंने देखा कि एक बहुत ही भयंकर सांप मेरा पीछा करते हुए वहाँ आ गया। उसने शीघ्र ही मुझे काट भी लिया। मैंने अनुमान किया कि मैं मर रही हूँ और मैं मरकर चेतना-शून्य भी हो गई। काफी देर के बाद मेरी चेतना पुनः लौट आई। मैं पुनः जीवित हो गई और मैंने देखा कि मैं आनन्दकन्द श्री प्रभुजी की गोद में ही बैठी हूँ।

मैंने आनन्दकन्द श्री प्रभुजी से पूछा— प्रभो! यह सब क्या मामला है? मैं तो मर गई थी, पुनः जीवित कैसे हो गई। यह सुन कर आनन्दकन्दजी ने उत्तर दिया—'देखो, सांप से काटे जाने पर मरने का संस्कार तुम्हारा अत्यन्त प्रबल था। यदि यह सांप तुम्हें स्थूल शरीर में काटता तो तुम अवश्य मर जातीं। इसलिए ध्यानके द्वारा तुम स्थूल से सूक्ष्म में तथा पुनः सूक्ष्म से कारण शरीर में आईं। इस सांपके काटने का अनुभव तुम्हें कारण शरीर में हुआ है। इसलिए इसका कोई प्रभाव स्थूल शरीर पर नहीं पड़ेगा। यदि तुम्हारे सूक्ष्म शरीर को भी यह सांप काटता तो उसका कुछ न कुछ प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता, इसलिए तुम्हें कारण शरीर में लाने की आवश्यकता हुई। अब तुम्हें सांप के काटे जाने और मृत्यु को प्राप्त होने के संस्कार का भुगतान हो चुका और तुम मृत्यु से बच गईं'।"

तत्पश्चात् मुझे अनुभव हुआ कि मैं पुनः ऊपर से नीचे उतर रही हूँ और अपने स्थूल शरीर में आ गई। तदनन्तर मेरा ध्यान खुल गया।

यह विवरण सुनकर हम सभी लोग अपने महाप्रभुजी की अद्भुत कृपा से अभिभूत होकर बार-बार रोमांचित होने लगे।

धन्य है प्रातः स्मरणीय श्री सद्गुरुदेव जी तथा आनन्दकन्द श्री प्रभुजी जो अपने छोटे बच्चों पर भी इतनी अद्भुत कृपा करते रहते हैं।

उपयोगी पदार्थ :—

दही और मट्ठा

● सुश्री रेनु भारद्वाज

दूध से बने दही और छाछ (मट्ठा) दो अलग-अलग पदार्थ हैं। यह दोनों ही हमारे दैनिक भोजन के उपयोगी अंग रहते हैं लेकिन हममें से बहुत-से पाठक इनका उपयोग करते हुए भी इनके गुणों से अपरिचित रहते हैं। इस लेख में हम इन दोनों पदार्थों के गुणों को अलग-अलग बताने की चेष्टा कर रहे हैं। इनके गुणों को सही-सही समझकर जो व्यक्ति इनका उपयोग करते हैं उन्हें निःसन्देह यह लाभदायक और स्वास्थ्य-प्रद हो जाते हैं।

आइये पहले पढ़ें और समझें दही के गुणों को :—

दही

दही में प्रोटीन के श्रेष्ठ मात्रा रहती है यह दूध की अपेक्षा सरलता से पच जाता है इसलिए बाल रोग विशेषज्ञ बुलगारिया के डाक्टर इसे शिशुओं के लिए मा के दूध के बाद उत्तम आहार बतलाते हैं जिन बच्चों को मा का दूध उपलब्ध नहीं हो पाता है उन्हें दही को ही प्रिय बनाकर दिया जाता है।

उच्च रक्त दाब, मुटापा तथा गुर्दे की बीमारियों में भी दही अत्यधिक लाभप्रद बताया गया है। अमरीका के डॉ० जार्ज शीमान् के अनुसार दही हृदय रोग की रोकथाम के लिए उत्तम वस्तु है। रक्त से बनने वाले कोलैस्ट्रोल नामक सख्त पदार्थ रक्त-शिराओं में जमकर जब रक्त प्रवाह को रोक देता है तब इस विकार को दूर करने में दही का प्रयोग लाभदायक रहता है।

दही में पिसी हुई काली मिर्च मिलाकर सिर को धोने से अच्छी सफाई हो जाती है बाल मुलायम और काले रहते हैं तथा बाल गिरना भी बन्द हो जाता है कम से कम सप्ताह में सिर सफाई का यह प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

एक कप दही में नमक मिलाकर उसे फेंट लें तथा इस फेंटे हुए दही से बालों को मलकर साफ करें इससे सिर का मैल जिसे रूसी कहते हैं दूर हो जायेगी।

फोड़े में सूजन, दर्द जलन हो तो पानी निकाला हुआ दही उस पर बाँध दें। दिन में तीन बार बदल कर पट्टी बाँधने से पर्याप्त लाभ पहुँचता है।

भाँग का नशा—ताजा दही खिलाने से भाँग का नशा दूर हो जाता है।

शरीरसे दुर्गन्ध आने पर दही और बेसन मिलाकर मलने से लाभ पहुंचता है।

कैंसर—राष्ट्रीय डेरी संस्थान करनाल के वैज्ञानिकों ने काफी परीक्षण और खोज-बीन के बाद अपना यह मत व्यक्त किया है

कि दही का सेवन कई प्रकार के कैंसर की सम्भावना को समाप्त कर देता है तथा उसका सेवन स्वास्थ्यप्रद भी रहता है। यों तो दही, दूध के जमाने पर बनता है परन्तु दूध दही के रूप में बदलने पर अपने गुणों में वृद्धि कर लेता है।

वैज्ञानिकों के अनुसार दही खाने के एक घण्टा बाद ही उसके ८१ प्रतिशत अंश को शरीर आत्मसात कर लेता है। जबकि दूध सेवन के एक घण्टे के बाद केवल ३२ प्रतिशत अंश ही शरीर आत्मसात कर पाता है। दही से शरीर की फालतू चर्बी कम होती है इसलिए मुटापा कम करने के लिए भी इसका उपयोग उत्तम रहता है।

आयुर्वेद में दही के गुण-दोषों का वर्णन विस्तार से करते हुए कहा गया है कि इसके नियमित रूप में सेवन करने से आयु, बल और स्फूर्ति की वृद्धि होती है इसीलिए इसे भू-लोक का अमृत कहा गया है।

छाछ या मट्ठा

अंग्रेजी में इसे बटर मिल्क कहा जाता है। इसका सेवन शरीर विजातीय तत्वों को बाहर निकालकर उसे नव-जीवन प्रदान करता है तथा शरीर के अन्दर की रोग प्रतिरोधक शक्ति को बलशाली बनाता है। छाछ में दही बिल्कुल नहीं होना चाहिए। ठीक ढंग से मथने या बिलोने से छाछ में दही का अंश नहीं रहता है। गाय के दूध से बनी छाछ (मट्ठा) अच्छी रहती है इसके लम्बे समय तक पीते रहने में जो रोग दूर हो जाते हैं वह फिर नहीं उभरते। अधिक खट्टी छाछ उपयोगी नहीं रहती है भोजन के बाद छाछ पीने से शारीरिक शक्ति बढ़ती है तथा बाल असमय में सफेद नहीं होते।

जनश्रुति है कि भोजन के अन्त में छाछ रात्रि के मध्य में दूध और रात्रि के अन्त में पानी पीने से स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

छाछ में नमक और पिसी हुई अजमाइन मिलाकर पीने से बवासीर में लाभ रहता है। छाछ के उपयोग से बवासीर के उत्पन्न हुए मस्से पुन उत्पन्न नहीं होते। छाछ मिलाने के लिए सेंधा नमक अच्छा रहता है। घी, तेल, और मूंगफली अधिक खाने से हुए अजीर्ण पर छाछ पीना भी लाभदायक रहता है।

छाछ पीने से शरीर के स्रोतों की शुद्धि होने पर रस का भली-भाँति संचार होने लगता है। आंतों से सम्बन्धित कोई रोग नहीं होता। नियमित रूप से पीने से शरीर में पुष्टि, प्रसन्नता, बल, कान्ति और ओज की वृद्धि होती है। पिसी हुई अजमाइन, सेंधा नमक और छाछ तीनों मिलाकर भोजन के अन्त में नित्य प्रतिदिन कुछ दिन पीने से बहुत लाभ होता है।

आधा पाव छाछ में १ तोला शहद मिलाकर पीने से दस्त बन्द हो जाते हैं।

छोटे बच्चों को नित्य छाछ पिलाने से दाँत निकलने में कष्ट नहीं होता तथा दांतों में कोई रोग भी नहीं होता। मुटापा भी छाछ पीने से कम हो जाता है।

छाछ से बावज, दस्त, पेचिस, खुजली, चौथे दिन आने वाला मलेरिया बुखार, तिल्ली, जलोदर, रक्तचाप की कमी या अधिकता, दमा, गठिया, अर्द्धांग वात, गर्भाशय के रोग मलेरिया जनित यकृत के रोग, मूत्राशय की पथरी आदि में भी लाभ पहुंचता है।

सवाई योगाश्रम के विशाल प्रांगण में—

महाप्रभु का पावन-जयन्ती समारोह

श्रद्धा और भक्ति समन्वित अनुपम योग महामेला

(कार्यालय प्रतिनिधि द्वारा)

विश्व-विख्यात योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई (आगरा) के विशाल एवं सुरम्य प्रांगण में पिछले वर्षों के समान इस वर्ष भी चैत्र शुक्ला ७, ८ और ९वीं को परमप्रभु श्री रामलालजी महाराज का जयन्ती समारोह त्रिदिवसीय योग-महामेलाके रूप में अत्यन्त हर्ष और उल्लास के वातावरण में मनाया गया। इस त्रिदिवसीय जयन्ती-समारोह की अध्यक्षता ग्रहण करने की कृपा की योग प्रशिक्षण केन्द्र के एकमात्र संचालक, संस्थापक तथा वर्तमान युग के विश्ववन्द्य प्रख्यात सिद्धयोगी भक्त-वत्सल करुणा-सागर महामान्य अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज ने।

हिमालय, पंजाब, हरियाणा, बंगाल, बिहार, राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश के सुदूर अंचलों में निवास करने वाले कई हजार योग-साधना प्रिय भाई-बहनों ने इसमें भाग लेकर योगी-जीवन की परम्परा को आज के युग में प्रतिष्ठापित करने वाले अपने आराध्य योगयोगेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की।

हजारों की संख्या में आये हुए भाई-बहनों की भारी भीड़ चैत्र शुक्ला नवमी के दिन लम्बी-लम्बी कई-कई पंक्तियों में बँटकर जब अपने गुरुदेव अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज के श्रीचरणों का पूजन करने एवं माल्यार्पण करने को—घण्टों तक प्रतीक्षारत रहकर एक अनुशासित सिपाही की भाँति, उन तक पहुंचने के लिए शनैः शनैः सरकती हुई दीख पड़ती थी, तब वह देखने वालों के मन पर अपनी यह छाप सहज ही छोड़ देती थी कि अब भी इस देश में प्राचीन आश्रम परम्परा और आरण्ययुगीन गुरु-शिष्य परम्परा के अंश इस देश में बहुत कुछ अवशेष हैं।

आश्रम का यह 'योग महामेला' एक साफ-सुथरे, ज्ञानवर्द्धक मेले के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका है, इसलिए इसमें भाग लेने वाले साधकों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती ही जाती है। यह बढ़ती हुई संख्या संस्था की लोकप्रियता और उपादेयता का प्रमाण है। आये हुए सभी भाई-बहनों की आवास और भोजन व्यवस्था आश्रम की ओर से निःशुल्क रूप में की जाती है। यथा सम्भव सभी को आवासीय सुविधा प्रदान की जाती है। किसी भी भाई-बहन को किसी भी प्रकार की कुछ भी असुविधा न हो, इसकी सावधानी पर स्वयं श्री गुरुदेवजी महाराज अपना नियन्त्रण रखते हैं।

समारोह में प्रतिदिन के कार्यक्रम का आरम्भ और समापन श्रद्धेय श्री गुरुदेवजी महाराज की अगुवाई में महाप्रभुजी की सामूहिक आरती से ही होता रहा। सामूहिक आरती का यह दृश्य भी बड़ा ही प्रेरक और उत्साहवर्द्धक रहता है। सभी आगन्तुकजन प्रसाद के रूप में आरती के जल-बिन्दुओं को अपने गुरुदेव के कृपा-करों से अपने ऊपर आदर सहित लेना अपना अहोभाग्य समझते हैं।

महिला संगीत का आयोजन भी इस समारोह की अपनी एक विशेषता रहती है। इसका संचालन आश्रम की प्रख्यात विदुषी बहिन तपोमूर्ति डा० उमा शर्मा के निर्देशन में बड़े ही उत्साहवर्द्धक और सुखद वातावरणमें चलता रहता है। अनेक संगीत एवं वाद्यकला में निष्णात बच्चियाँ और बहनें अपने मधुर-गीत सुनाकर समूचे वातावरणको सरस बनाने का सराहनीय प्रयास करती है। श्री गुरुदेवजी भी इस संगीत-सम्मेलन में भाग लेकर संगीत प्रेमीजनों व बच्चियों का उत्साहवर्द्धन करते है। महाप्रभुजी के चारु-चरित्रों की घटनाओं को भजनबद्ध करके सुनाने की सुश्री उमाजी की अपनी विशेष शैली है, जो घंटों तक श्रोताओं को अधिकाधिक सुनने की चाह बनाये रखती है।

श्रद्धेय श्री गुरुदेवजी महाराज ने अपने महत्त्वपूर्ण प्रवचनों में अपने गुरुदेव महाप्रभुजी के योग-ऐश्वर्यों पर प्रकाश डालते हुए बताया कि उन्होंने योग का जो पथ निर्देशित किया है, वह सर्वमान्य और संसार के पाप-तापों से पीड़ित मानव के कल्याण का श्रेष्ठतम् मार्ग है इसके सिवाय और कोई श्रेष्ठ मार्ग नहीं है। उन्होंने बताया कि ध्यानयोग को आधार बनाकर मनुष्य उस शक्ति को अर्जित कर सकता है जो कि उसके जीवन को अलौकिक और दिव्य-जीवन के रूप में बदल दिया करती है। यही वह शक्ति है जिसे पाने के बाद मनुष्य को फिर इस भव-बन्धन में नहीं बंधना पड़ता। अत: सभी का यह कर्त्तव्य है कि अपने और अपने समीपी वातावरण को शुद्ध और सम्पन्न बनाने के लिए ध्यानयोग का गहन अभ्यास करते रहें, जैसाकि प्रभुजी ने बताया है और जिसका विस्तार से वर्णन हमने जीवन-तत्व साधन नामक पुस्तक में किया है।

समारोह में दूसरे दिन अनेक यौगिक क्रियाओं और आसनों आदि के प्रदर्शन भी ब्रह्मचारियों द्वारा प्रदर्शित किये गये, जिनकी सभी ने मुक्तकण्ठ से सराहना की। किस यौगिक क्रिया अथवा आसन की क्या उपयोगिता है, इस पर स्वयं श्री गुरुदेवजी महाराज अपने श्रीमुख से प्रकाश डालते रहे।

ब्रह्मचारी राजकुमार ने खुले मंच पर २ सूत की लोहे की सरियों को एक हाथ में चूड़ियों की तरह मोड़कर तथा ब्रह्मचारी बलराम ने ४ सूत की मोटी सरिया को गले से लगाकर मोड़ने एवं ३ सूत की मोटी सरिया को आँख से मोड़ने जैसे अनोखे कौतुकपूर्ण प्रदर्शन दिखाये। श्री ज्ञानी बाबा ने जलनेति तथा ब्रह्मचारी कृष्णदत्त वाजपेयी ने अनेक उपयोगी आसनों का प्रदर्शन किया, जबकि ब्रह्मचारी वेदराम ने कपालभाति की क्रिया को प्रदर्शित किया। इन सब साहस, शौर्य और कौशलपूर्ण क्रियाओं की दर्शकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

इस त्रिदिवसीय समारोह का समापन गुरु-पूजन और विशाल सामूहिक ब्रह्मभोज के साथ रामनवमी के दिन हुआ, जो कि समारोह का अन्तिम दिन था। ●

संसार धर्म पर टिका है—कैसे ?

मनु महाराज के कथनानुसार धैर्य, क्षमा, दम (विशेष अवसरों पर इन्द्रियों का दमन करना) अस्तेय (चोरी आदि न करना) शौच (शारीरिक स्वच्छता) इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियोंको कुकर्मोंसे रोकने का स्वभाव बनाना) धी (सांसारिक ज्ञान) विद्या (आत्म-ज्ञान) सत्य तथा अक्रोध (क्रोध न करना) में धर्म के दस लक्षण हैं। इनके विरुद्ध चलने से व्यक्ति तथा संसार का नाश अवश्यम्भावी है।

१. धैर्य खोने से मनुष्य बिना विचारे बहुत से हानिकर उलटे कार्य करके अपनी हानि करेगा, यदि समस्त संसार धैर्य खो बैठे तो वह अवश्य ही नष्ट होगा।

२. क्षमा को भूल जाने से संसार में प्रतिशोध की विनाशकारी भावना ही बढ़ेगी।

३. विकार उत्पन्न करने वाले (काम, क्रोध, लोभ, मोह के उत्पादक) विषय सामने आने पर उनमें फंस जाने वाले व्यक्ति संसार में अनीति, अन्याय एवं अनाचार की वृद्धि करके उसे नष्ट करेंगे।

४. दूसरों के धन आदि का अन्यायपूर्वक हरण करने से अबल-असहाय, असमर्थ लोग अभाव-ग्रस्त होकर नष्ट होंगे, फिर उन्हें लूटने वाले सबल व्यक्ति भी परस्पर लड़कर मर जायेंगे।

५. शरीर, वस्त्र, घर आदि की स्वच्छता के बिना संसार महामारियों से नष्ट होगा।

६. कुकर्म करने के स्वभाव वाले दुष्ट मनुष्य अराजकता फैलाकर संसार को अति शीघ्र नष्ट कर देंगे।

७. सांसारिक ज्ञान से शून्य मूर्ख-जन तो अपना तथा संसार का नाश करेंगे ही।

८. आत्म-ज्ञान विहीन लोग स्वयं को अमर समझकर (रावण आदि के समान) स्वार्थ वश संसार का विनाश कर डालेंगे।

९. सत्य को छोड़कर मिथ्यावाद (झूठी अफवाओं आदि) पर चल पड़ने से संसार (वर्तमान वैज्ञानिक युग में) महायुद्ध में फंसकर कुछ ही क्षणों में नष्ट हो सकता है।

१०. क्रोध से तो व्यक्ति और संसार नष्ट होने से बच ही नहीं सकते।

सारांश यही है कि मनु प्रणीत धर्म के उपर्युक्त दस लक्षणों में से एक के भी विपरीत चलने से, व्यक्ति एवं संसार नष्ट हो सकता है फिर दसों लक्षणों के विपरीत चलकर तो (इस वैज्ञानिक युग में) मानव-संसार अन्य जीवों सहित कुछ ही क्षणों में पूर्णतः नष्ट हो जायेगा। अतः यह कथन ध्रुव सत्य है कि संसार धर्म पर टिका हुआ है।

—श्री हृषीकेश चतुर्वेदी

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008, MAY, 1990

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर)
आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

1925
श्री सुरेन्द्र कुमार त्रिपाठी
श्री एन डी - ठड्डो दिया सरकारी
वकील का मकान - गणेशपुरा
मुरैना (म० प्र०)

आदर्श पुरुष

भारतीय दर्शन और दर्शनकारों का कथन है कि संसार में बहुत ही थोड़े मनुष्य ऐसे होते हैं जो अपने जीवन-लक्ष्य को पहचान पाते हैं और इन थोड़ों में बहुत कम ऐसे होते हैं जो जीवन-लक्ष्य को पहचान कर उसे प्राप्त करने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हों। जो अपने जीवन लक्ष्य को शुभ्र और सतत् प्रयासों के बल से प्राप्त कर पाने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं वे ही आदर्श मानव कहकर पुकारे जाते हैं और आगे आने वाली पीढ़ी इस प्रकार के आदर्श पुरुषों के चरित्र व लोक व्यवहार का अनुसरण करके अपने चरित्र और व्यवहार को उत्तम व श्रेष्ठ बनाने की प्रेरणा प्राप्त किया करती है।

—श्रुतिसार

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, वसई कलां ताजगंज, आगरा । Ph. 65426